कवि भवभूति और उनका नाट्यलोक

संपादक
डॉ॰ राधावल्लभ त्रिपाठी
डॉ॰ भास्कराचार्य त्रिपाठी

कवि भवभूति और उनका नाट्यलोक

सम्पादक
डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
डॉ० भास्कराचार्य त्रिपाठी

प्रकाशक
संस्कृत परिषद्
विश्वविद्यालय, सागर

प्रथम संस्करण : 1987

© संस्कृत परिषद्

मूल्य : 50 रुपया

Kavi Bhavabhūti Aur Unka Natyalok : Essays on Bhavabhūti. Edited by Dr. Radha Vallabh Tripathi and Dr. Bhaskaracharya Tripathi. Published by Sanskrit Parishad, University, Sagar (M.P.) Fisst Edtion, 1987.

मुद्रक :
एकेडमी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

विज्ञप्ति

इस पुस्तक की सामग्री म० प्र० संस्कृत अकादमी, भोपाल के सौजन्य से प्रस्तुत की जा रही है। अकादमी ने अक्टूबर 1986 में भवभूति पर एक अखिल भारतीय संगोष्ठी ग्वालियर नगर में आयोजित की। संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों तथा व्याख्यानों से भवभूति के देश-काल, व्यक्तित्व तथा कृतित्व के कुछ अनछुए पहलू उभर कर सामने आये। इस सामग्री की उपादेयता देखकर इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। डॉ० गो० क० भाट का लेख भी 'अनाल्स आफ भंडारकर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट' पत्रिका से अनूदित कर के इस सामग्री में सम्मिलित किया गया है। सभी विद्वान् लेखकों के प्रति हम सहयोग के लिये कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक से भवभूति को केंद्र में रख कर भारतीय नाटक और रंगमंच की परंपरा तथा विश्व रंगमंच के संदर्भ में उसकी अर्थवत्ता पर एक सार्थक बहस का उपक्रम हो सकेगा तथा भवभूति जैसे प्रखर प्रतिभाशाली रचनाकार के नाट्य-विश्व की सही समझ देने में यह सहायक होगी।

—संपादकद्वय

अनुक्रम

• खंड एक : परिवेश

केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम् : गो० क० भाट 3
भवभूति : परिवेश और रचनाकाल : डॉ० अयोध्या प्रसाद सिंह 10
महाकवि भवभूति और पद्मावती : सीताराम दाँतरे 18
भवभूति की नाट्यकला और पद्मावती : हरिहर त्रिवेदी 27
भवभूति का परिवेश : दो टिप्पणियाँ : भगवतीलाल राजपुरोहित 32 अ

• खंड दो : भवभूति का नाट्यविश्व

भवभूति : स्मृति, सत्ता और भविष्यत् : श्रीनिवास रथ 35
एको रसः करुण एव : कमलेशदत्त त्रिपाठी 43
भवभूति के नाटकों में प्रयोगधर्मिता : सत्यवती त्रिपाठी 52
भवभूति की कविता में मनोराज्य का चित्रण : राजेन्द्र मिश्र 55
भवभूति के नाट्य में संघर्ष की अवतारणा : क्षेत्रवासी पंडा 62
भवभूति के समीक्षक तथा दर्शक : कुसुम भूरिया 68

• खंड तीन : विश्वनाट्य और भवभूति

त्रासदी की भारतीय अवधारणा और भवभूति के नाटक : राधावल्लभ त्रिपाठी 77
भवभूति के रंगकर्म की पहचान : कमलेशदत्त त्रिपाठी 94
करुण रस, विश्वनाट्य और भवभूति : विश्वनाथ भट्टाचार्य 106
रंगकर्म और भवभूति : हबीब तनवीर 109

खंड : एक

परिवेश

केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्

गो० क० भाट

भवभूति ने अपने मालतीमाधव में उन लोगों का उल्लेख किया है, जिन्होंने उनका (भवभूति का) तिरस्कार किया था । इस उल्लेख के लिये कवि ने एक विशिष्ट परिभाषा भी दी है । मालती माधव की प्रस्तावना में सूत्रधार अपनी अवज्ञा करने वालों की प्रतिक्रिया में कवि के द्वारा व्यक्त उद्गार को 'वाचोयुक्ति' कहता है । अपनी इस वाचोयुक्ति में कवि ने स्पष्ट नहीं कहा कि उसकी अवज्ञा करने वाले ये लोग थे कौन ? निश्चय ही यह प्रश्न समाधेय है ।

विद्वज्जनों की यह मान्यता रही है कि भवभूति ने अपने समय के उन प्राश्निकों या समीक्षकों की ओर कटाक्ष किया है, जिन्होंने उनके पहले नाटक "महावीरचरित" (मच०) को नापसंद किया था । यह नाटक असफल रहा—यह भी माना जाता है । इसमें नाटकीय गुणों का अभाव है और काव्यतत्त्व का भी । यह संवादों में लिखा हुआ एक निबन्ध अधिक लगता है । अतएव स्वभावतः इसकी कड़ी समीक्षा हुई और संवेदनशील कवि को इससे आघात लगा । तभी अपने दूसरे नाटक "मालतीमाधव" (मामा०) में उसने अपने समीक्षकों को करारा उत्तर दिया और आशा व्यक्त की कि निरवधि काल और विपुल पृथ्वी में कभी तो कोई तो उसे सराहने वाला होगा । फिर भी भवभूति को उनके समीक्षकों ने आडे हाथों लेना बन्द नहीं किया । पर भवभूति भी आगे जाकर प्रौढ़ और सहिष्णु होते गये, अपनी अन्तिम कृति "उत्तर-रामचरित" (उराच०) में वे अनुभव करते हैं कि स्त्रियों और वाणी की साधुता को लेकर लोग दुर्जन ही होते हैं, और वे दार्शनिक भाव से तटस्थ होकर मनुष्य को अपने रास्ते चलते रहने की सलाह देते हैं ।

भवभूति के कथित कटु आलोचकों की पहचान अभी नहीं की जा सकी है। प्रो० जी० सी० झाला का सुझाव है कि ये कटु आलोचक थे—बाण का पुत्र तथा बाण के प्रशंसक।[1] झाला कहते हैं कि भवभूति के पहले की शती में बाण चोटी के रचनाकार थे। उनके गद्यकाव्य की अलंकृत शैली ने अपने समय के अधीती पाठकों को मोह लिया था। कन्नौज के राजा हर्ष का आश्रय भी बाण की ख्याति और गौरव-वर्धन का एक कारण बना था। जब भवभूति ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, तो बाण की यह ख्याति बनी हुई थी। बाण के पुत्र, जो भवभूति के वरिष्ठ समकालीन रहे होंगे, अपने पिता की साहित्यिक शैली और कीर्ति की ध्वजा फहराते होंगे। झाला के अनुसार भवभूति का मामा० बाण की 'कादम्बरी' से शृंगार-कथा के निर्वाह में बड़ी दूर तक साम्य रखता है। इसलिये बाण के पुत्र और प्रशंसकों ने भवभूति पर कादम्बरीकार का अनुकरण करने के लिये प्रहार किया होगा। भवभूति ने "के नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्"—इत्यादि पद्य के द्वारा इन्हीं आलोचकों को उत्तर दिया है।

प्रो० झाला के सुझाव में एक अच्छी बात यह है कि उसमें मामा० की प्रस्तावना में कवि की "वाचोयुक्ति" को इसी नाटक के संदर्भ में लिया गया है। इसके पहले की व्याख्याओं में यह संदर्भ महावीरचरित की असफलता के लिये माना गया है, जो उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि संस्कृत नाटक की प्रस्तावना में प्रस्तुत होने वाले नाटक के विषय में ही कवि कुछ कहता है, पिछली रचनाओं के विषय में नहीं। पिछली रचनाओं पर हुई समीक्षा का उत्तर नयी रचना की प्रस्तावना में देने की पद्धति आधुनिक है, और संस्कृत नाटककारों के लिये अपरिचित है। वे प्रस्तावना में अपना और अपने प्रकृत नाटक का परिचय देते आये हैं तथा कुछ नाटककार आत्म-श्लाघा और अपने नाटक की प्रशंसा भी करते हैं। अतएव भवभूति द्वारा प्रस्तावना में अपनी पूर्वरचना की असफलता पर कुछ कहना सम्भाव्य नहीं लगता। वस्तुतः संस्कृत नाटक की प्रस्तावना में नाटककार के द्वारा साहित्यिक आरोपों का उत्तर देना आज के विद्वानों का अनुमान मात्र है, संस्कृत की साहित्यिक परम्परा इसकी पुष्टि नहीं करती। झाला ने बाण की साहित्यिक शैली का भवभूति से जो सम्बन्ध जोड़ा है, वह भी पूरी तरह स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि बाण और भवभूति के बीच एक शताब्दी का अन्तराल है। यह तो माना जा सकता है कि सुबन्धु और बाण की अलंकृत गद्य-शैली ने साहित्यिक परम्परा पर गहरी छाप छोड़ी, तथा अपनी व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा इस शैली की नाटक में अवतारणा संभवतः भवभूति ने ही की। पर बाण के अनुकरण से उनके पुत्र और प्रशंसक चिढ़ गये—ऐसा मानने पर

1. G. C. Jhala : Bhavabhuti and his Contemporary Detractors, J O I, Baroda, XIV,3-4 pp. 48-63.

यह भी मानना होगा कि भवभूति की रचनाएँ साहित्यिक क्षेत्र में तुरन्त प्रचारित हो गयीं थीं, जिसके कारण उन पर तत्काल हुई प्रतिक्रिया से भी भवभूति अवगत हुए। उस समय ऐसा होना संभव नहीं लगता।

साथ ही, बाण के पुत्र को भवभूति के द्वारा अपने पिता के अनुकरण से चिढ़ भी क्यों हुई होगी? भवभूति अहम्मन्य हैं और अपनी साहित्यिक क्षमता को स्वयं सराहते हैं, पर उन्होंने बाण या उनके उत्तराधिकारियों की तो कहीं निन्दा की नहीं है। इसके विपरीत, यदि उन्होंने कहीं बाण की शैली का अनुवर्तन किया, तो इससे तो बाण का गौरव ही बढ़ता है, और इससे बाण के पुत्र या उनके प्रशंसकों को प्रसन्नता ही होनी चाहिये।

दूसरे आधार पर भी, भवभूति के प्रथम या द्वितीय नाटक की आलोचना होने की बात खरी नहीं उतरती। उस समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थितियाँ साहित्यिक गतिविधियों के लिये अनुकूल थीं। राजा यशोवर्मा, जिनका आश्रय भवभूति ने बाद में पाया, काव्य-नाट्य के प्रति रुचिशील थे। उनके कुछ मुक्तक सुभाषित संग्रहों में मिलते हैं। उन्होंने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक लिखा था, जो अब अप्राप्त है। उनके दरबार के कवि वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य लिखा था, जो अपनी प्रवाहपूर्ण शैली तथा ग्रामजीवन के चित्रों के कारण उल्लेख्य है। वाक्पतिराज ने एक और प्राकृत काव्य 'मधुमथनविजय' लिखा था, ऐसा कहा जाता है। उनके कुछ स्फुट पद्य 'गाथासप्तशती' में जोड़ लिये गये—यह भी माना जाता है। इस काल में और भी अनेक साहित्यिक कृतियाँ रची गयी होगीं यद्यपि अब वे मिलती नहीं हैं।

भवभूति यशोवर्मा के पास जीवन के उत्तरार्ध में पहुँचे थे। पर कल्हण की सूचना के अनुसार वे यशोवर्मा की राजसभा के सम्मानित कवि थे। वाक्पतिराज ने अपने इस अग्रज साहित्यकार की सहृदयतापूर्ण प्रशस्ति की है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भवभूति ने अपनी काव्यप्रतिभा और यश को उस समय अच्छी तरह स्थापित कर लिया था—

> भवभूइजलहिणिग्गदकव्वामयरसकणा इव फुरंति।
> जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु॥
>
> (गउडवहो—799)

बाद के रचनाकारों ने तो भवभूति की प्रशंसा और भी उन्मुक्त भाव से की है। हमारी परंपरा भवभूति को कालिदास के बाद सर्वोच्च कवि मानती आयी है। भवभूति के नाटक उनके द्वारा राज्याश्रय प्राप्ति के बहुत पहले ही कालप्रियनाथ की यात्रा में खेले जा चुके थे। भवभूति का इन नाटकों को प्रस्तुत करने वाले नटों से सौहार्द्र भाव था। इस तरह भवभूति अपने समय की नटमंडली और दर्शक समाज दोनों के चहेते रहे थे।

इस प्रकार भवभूति पर यदि साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से कटु आलोचना हुई थी, तो न तो वह उनके पहले नाटक की असफलता के कारण हो सकती थी, न उनके द्वारा बाण के अनुकरण के कारण ही। इस कटु आलोचना का सम्बन्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों से हो सकता है। भवभूति के पूर्ववर्त्ती नाटककारों—भास, कालिदास, शूद्रक, श्रीहर्ष आदि ने संवादों में सरल और बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया था। उन्होंने अनेक प्रकार की विषयवस्तु तथा भावों का उपस्थापन किया, पर प्रेम उनके रचना-संसार में केन्द्र में रहा। गंभीर कथानक और जीवन-विच्छितियों की प्रस्तुति में भी उनकी कृतियों की रुचिरता और रोचकता जनता के लिये आकर्षण बनाये रही। इनकी तुलना में भवभूति, अपने स्वभाव तथा दीक्षा दोनों की दृष्टि से एक गंभीर बौद्धिक व्यक्ति थे। दंडी, बाण और सुबंधु के द्वारा प्रयुक्त अलंकृत गद्यशैली ने अवश्य ही बौद्धिक स्तर पर उन्हें आकृष्ट किया होगा, और उन्होंने इसका उपयोग नाटक के संवादों में किया। उन्होंने प्रेम की विषयवस्तु उठाई, पर गांभीर्य और दार्शनिकता से बच न सके। भवभूति के नाटकों में उल्लासपूर्ण हल्का-फुल्का वातावरण नहीं है। भवभूति ने कुछ नये प्रयोग भी किये। उन्होंने एक बार रामायण-कथा की प्रस्तुति वीर और अद्‌भुत रसों के निदर्शन के रूप में की, तो दूसरी बार करुण के। यह एक नयी प्रवृत्ति थी, तथा इसकी सराहना के लिये समय अपेक्षित था। संभवतः, इसके कारण भवभूति 'वचनीय' बने हों।

फिर भी मैं नहीं समझता कि इस प्रकार की आलोचना भवभूति को भावनात्मक आघात पहुँचा सकती थी। उनके समय की साहित्यिक परिस्थितियों को देखते हुए भवभूति को प्रशंसा पाने में अधिक समय लगा होगा—ऐसा नहीं लगता।

जगद्‌धर ने (मामा० 1.6 पर टीका में) कहा है कि अपनी वाचोयुक्ति के उद्‌गार में कवि की दृष्टि में तीन प्रकार के व्यक्ति रहे होंगे—एक तो अज्ञ जन, दूसरे, जो अद्वैतवादी होने के कारण कविता से विरक्त हैं, तथा तीसरे—काव्य के रसिक।

> इह तावत्त्रिविधाः पुरुषाः। केचिदज्ञा एव।
> केचिदद्वैतमग्नमनसः काव्यरसविरसाः। इतरे
> सहृदयहृदयामोदिकाव्यभव्यरसभररसिकाः।
> तत्राद्यान् प्रत्याह।

कवि का आशय जगद्‌धर के अनुसार यह है कि उसका यत्न अज्ञ जनों के लिये नहीं, और न उनके लिये जो कुछ जानते हैं। वह तो समानधर्मा लोगों के लिये ही है, जो उपर्युक्त तीसरी श्रेणी में आते हैं।

जगद्‌धर की व्याख्या कला के क्षेत्र में सामान्य प्रक्रिया का ही स्पर्श करती है।

अज्ञों और वेदांतियों के लिये कविता या नाट्य नहीं है । यदि इतनी ही बात भवभूति के मन में होती तो इसके साथ ऐसा दंश नहीं रहना चाहिये । प्रथम दो कोटियों के लोग तो सभी प्रकार के काव्य और नाट्य की आलोचना या उस पर प्रहार कर सकते हैं, केवल अकेले भवभूति को ही वे आलोचना और प्रहार का विषय व्यक्तिगत रूप से नहीं बनायेंगे । 'अवज्ञा' शब्द में बड़ी धारदार अभिव्यक्ति छिपी है, जो इस तरह के अज्ञों और वेदांतियों के लिये नहीं हो सकती । उराच में भवभूति ने 'वचनीयता' शब्द का प्रयोग करके (1.5) इस अभिव्यक्ति की पुनरावृत्ति की है । इसलिए भवभूति के इस भावुक उद्‌गार के पीछे कारण कहीं और जगह पर है । उन्हें जो चोट पहुँची है, वह व्यक्तिगत स्तर पर है तथा मेरी दृष्टि में कवि के अपने जीवन की पृष्ठभूमि में इसका कारण खोजा जाना चाहिये ।

भवभूति का व्यक्तिगत और पारिवारिक इतिहास बताता है वे श्रोत्रिय पंडितों के ब्राह्मण परिवार में हुए थे । ये तैत्तिरीय शाखा के, काश्यप वंशीय, पंक्तिपावन, पंचाग्नि तापने वाले धृतव्रत, सोमपीथी ब्राह्मण थे । इस पारिवारिक पृष्ठभूमि के साथ भवभूति ने ज्ञाननिधि जैसे यथार्थनामा गुरु से शास्त्र का ज्ञान पाया तथा पांडित्य और कर्मकांड की अपनी पैतृक परंपरा में वे सर्वथा दीक्षित किये गये । इस पृष्ठभूमि में ऐसे कुलीन ब्राह्मण परिवार के युवा से इसके अतिरिक्त और क्या अपेक्षा की जा सकती थी कि वह परिवार की परम्परा को आगे बढ़ाये, कर्मकांड और स्वाध्याय के प्रति समर्पित बना रहे । पर खेद की बात ! भवभूति ने तो दूसरा ही रास्ता अपनाया । भवभूति का रंगमंच के लोगों से जुड़ना—नटों से मित्रता जोड़ना—प्राचीन भारतीय समाज में नट को नीची निगाह से देखा जाता था । नाट्यशास्त्र में भरत के सौ पुत्रों को ऋषियों के द्वारा शाप देने की कथा आयी है जिससे वे शूद्र हो गये थे । कथा में आगे बताया गया है कि नाट्य की रक्षा और विकास के लिये नटों की आगे की पीढ़ी के लिये शाप को शिथिल किया गया । पर इससे समाज में नटों की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया । वनवास के लिये जाते राम जब सीता को छोड़ कर जाने का इरादा व्यक्त करते हैं, तो सीता चिढ़कर कहती हैं—'शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि !' (वा० रामा० 2.27.8)—नट-भाँड की तरह मुझे अन्य को सौंप देना चाहते हो ! अभिजात हिन्दू के मन में यह धारणा बैठ गयी थी कि नट नीच और अनैतिक होता है और उसकी ओर देखना भी पाप से स्पृष्ट होना है । कालांतर में नटों की ओर समाज का रुख थोड़ा उदार हुआ था, पर अभी तक भी नट समाज के लिये हमारे यहाँ अपनत्व का भाव नहीं बन सका है । अभी भी युवा पुत्र का परिवार की स्थापित परम्पराओं से छूट लेना क्षम्य नहीं हो सकता । फिर भवभूति के समय परिवार की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाने वाले उनके काम से कितनी तीखी प्रतिक्रिया हुई होगी—इसका अनुमान किया जा सकता है ।

इसलिये मेरी समझ से भवभूति की कड़ी आलोचना करने का कारण यह था कि परिवार की अपेक्षा के विपरीत उन्होंने एक साहित्यकार के जीवन का वरण किया। रचनात्मक लेखन के लिये ऐसी ललक भवभूति के मस्तिष्क और संवेदन पर छायी थी कि उन्होंने शास्त्र के पंथ से पीठ मोड़ ली और काव्य मार्ग पर चल पड़े। शास्त्र-परंपरा के अनुगामी परिवार में तिरस्कार का पात्र बनने के लिये उनका इस मार्ग पर पहला चरण ही पर्याप्त था। भवभूति तो और आगे बढ़ गये। उन्होंने तो यह कह डाला कि नाट्य के रचनाकार के लिये वेद के अध्ययन या उपनिषद्, सांख्य और योग से क्या? उससे नाटक में तो कोई गुण आने वाला नहीं है—

यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके॥
—(मामा० 1.7)

तो वेदादि के अध्ययन के बजाय भवभूति साहित्य और नाट्य का अध्ययन करने लगे और व्यावसायिक रंगमंडली से भी उन्होंने मित्रता कर ली। इस रंगमंडली ने कालप्रियनाथ के यात्रामहोत्सव में उनके नाटक खेले।

यह एक अनोखी बात थी, जिसे भवभूति के समय का रूढ़िवादी परिवार बर्दाश्त करने वाला नहीं था। पंडित और शास्त्रकार का एक पावन जीवन छोड़ना और कविता और नाटक के फेर में पड़ना—सचमुच 'बुरी' बात थी! पर और भी बुरी बात हुई, आड़े हाथों लेने वाले लोग उनके अपने परिवार के लोग—उनके सगे सम्बन्धी, मित्र और उनके अपने घर-गाँव के बंधु-बाँधव थे। वे सब शास्त्र-निष्णात थे—जानन्ति ते किमपि—और काव्य रचना तथा नाट्यप्रस्तुति को अच्छा नहीं समझते थे। परिवार की गौरवशाली परम्पराओं से अलग होने के लिये भवभूति के प्रति वे क्रुद्ध हुए होंगे। वे चाहते होंगे कि कविता और नाटक में जीवन 'नष्ट' करने की अपेक्षा भवभूति पांडित्यपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ लिखें। संभवतः परिवार की मर्यादा को अस्वीकार कर साहित्यिक जीवन के अपने आग्रह को बनाये रखने के लिये उन्होंने भवभूति को कभी क्षमा नहीं किया। भवभूति जैसे संवेदनशील, अत्यंतभावुक व्यक्ति को अपने ही बंधुजनों के इस रुख से जबरदस्त आघात लगा होगा। इसीलिये वे 'वाचोयुक्ति' में नितांत निजी भावना को व्यक्त करते हैं, यद्यपि नाटक की प्रस्तावना में उनकी यह वाचोयुक्ति सर्वथा संदर्भच्युत है। अपने ही लोगों के कड़े विरोध की स्मृतियाँ भवभूति के मन को अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति उराच लिखने के समय तक सालती रही होगीं, क्योंकि तब तक तो साहित्यिक समाज उनकी प्रतिभा का कायल हो चुका था, केवल उनके अपने ही लोगों ने अभी तक नहीं अपनाया था। तथापि भवभूति की अपना समानधर्मा पाने की आशा अधूरी नहीं रही। वाक्पतिराज, और

साहित्यिकों की बाद की पीढ़ी से उन्हें भरपूर सम्मान मिला। चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में लिखा—

> 'आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु ।
> व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्ततः ॥
>
> नहि पुरा आप्त एव सन् नाटकनाटिकादि प्रबंधविरचनमात्रेण अनाप्तो भवभूतिः ।'

———

भवभूति : परिवेश और रचनाकाल

डॉ० अयोध्या प्रसाद सिंह

इस पृथ्वी पर उत्पन्न किसी भी प्राणी के सम्बन्ध में उसके परिवेश से निरपेक्ष होकर नहीं सोचा जा सकता। पृथ्वी पर आते ही प्राणी को कुदरत का कोई न कोई परिवेश तो मिल ही जाता है। इस परिवेश का उसके शारीरिक एवं मानसिक गठन एवं विकास पर प्रभूत प्रभाव दृष्टिगत होता है। किसी मनुष्य और इसमें भी किसी साहित्यकार के परिवेश के प्रसंग में इसकी अर्थवत्ता एवं महत्ता असंदिग्ध हो जाती है। यह परिवेश ही है जो किसी साहित्यकार, कवि या कलाकार को उसकी साधना क्षेत्र में दूसरा जन्म देता है; इस तरह उसके 'द्विज' होने की प्रासंगिकता प्रकारान्तर से यहाँ भी सिद्ध हो जाती है। किसी लेखक या कवि का यह द्विजत्व उसकी कृतियों में कभी-कभी तो अपनी स्पष्ट झलक लिए प्रतिबिम्बित होता है और कभी उसकी प्रच्छन्न अन्तर्धारा पाठकों और समीक्षकों के लिए अनुसन्धेय हो जाती है। आमतौर पर जो कवि या कलाकार जितना महान् होता है, अपने परिवेश के भौतिक या अर्द्धभौतिक रंगों को वह अपनी सर्जना की प्रक्रिया में घुला देने में उतना ही सक्षम दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में, परिवेश की यह सर्जनोन्मुखी घुलनशीलता एक ऐसा निकष है जिस पर हम किसी कवि की विशिष्टता एवं महत्ता की परख ले सकते हैं। कहना न होगा कि ऐसी घुलनशीलता भी परिवेशजन्य शक्ति का ही परिणाम होती है। ऐसी स्थिति में आकर कवि परिवेश के भीतर रहकर भी परिवेशातीत हो जाता है। अर्थात् सम्बद्ध परिवेश की घिनौनी आवश्यकताओं के बीच जब हम सर्जनधर्मा मनीषियों की उदात्तता के दर्शन करते हैं तो सामान्यतः यह बात हमारे गले नहीं उतरती। इसका विपरीत भी उसी प्रकार सत्य है। अतः यह कोई जरूरी

नहीं कि ऊपर-ऊपर किसी परिवेश की सुघड़ता या विकटता अपने अनुकूल कलाकृतियों को ही जन्म दे। वस्तुतः किसी कारयित्री प्रतिभा के सन्दर्भ में परिवेश के बहिरंग का उतना महत्त्व नहीं जितना उसके अंतरंग का होता है। परिवेश का यही अन्तरंग तथा तन्निहित ऊर्जा कवि की सर्जनशीलता में शक्ति बनकर फूटती है।

भवभूति जैसे महाकवि के परिवेश पर विचार करने के पूर्व स्वयं परिवेश का सामान्य स्वरूप स्पष्ट कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। किसी कवि का परिवेश वस्तुतः एक ऐसा आवेष्टन होता है जो अपने घेरे में उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आदि से अंत तक समाहित किए रहता है। इस अर्थ में वैसी सारी पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक स्थितियाँ जिनके बीच उसकी रचनाधर्मिता अंकुरित एवं विकसित होती है, परिवेश के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। असल में परिवेश से जीवन का कोई भी परिदृश्य अछूता दिखाई नहीं देता। बाह्य जगत् की जिन बहुरंगी स्थितियों में कवि अपना आकार ग्रहण करता तथा अपने स्व का उन्मेष करता है, वह सब कुछ परिवेश ही होता है। संक्षेप में परिवेश का यह स्वरूप स्थिर कर लेने के पश्चात् अब हमें देखना है कि भवभूति ने स्वयं इस सम्बन्ध में क्या कुछ कहा या संकेत किया है।

सौभाग्य से भवभूति संस्कृत के उन गिने-चुने महाकवियों में हैं, जो अपने पीछे अपने परिवेश के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट संकेत छोड़ गये हैं। परिवेश के व्यापक सन्दर्भ में उनकी सम्बद्ध उक्तियों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है— (1) पारिवारिक, (2) भौगोलिक और (3) धार्मिक। भवभूति द्वारा उपन्यस्त परिवेशगत सामग्री की उक्त श्रेणियों का विश्लेषण अलग-अलग करके हम इस महाकवि के युग-जीवन एवं प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ सार्थक निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(1) **परिवारिक**—भवभूति ने अपने समुज्ज्वल वंश की पाँचवीं पीढ़ी तक के तीन लोगों के नाम बताए हैं—सबसे पहले महाकवि, उसके बाद भवभूति के पितामह भट्ट गोपाल और पिता नीलकंठ। कवि ने इस सूची में अपने प्रपितामह का नाम क्यों छोड़ दिया, यह आश्चर्य की बात है। संभव है, प्रपितामह का नाम किसी कीर्ति या विशिष्ट कार्य से जुड़ा हुआ नहीं हो। उक्त तीनों के अतिरिक्त भवभूति ने अपनी माँ का नाम जातुकर्णी (जतुकर्णी) और गुरु का नाम ज्ञाननिधि बताया है। यों 'यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः' में 'ज्ञाननिधि' पद विशेषण भी हो सकता है और विशेष्य भी। यदि इसे विशेषण मान लें तो यह किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं माना जा सकता। फिर भी, सम्बद्ध प्रयोग की श्लेषमूलक भंगिमा को देखते हुए अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि ज्ञाननिधि कवि के गुरु का नाम था। कवि का अपना नाम भट्ट

श्रीकंठ था अथवा भवभूति, यह एक स्वतंत्र निबंध का विषय है। हम यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना चाहेंगे कि उन्होंने अपने नाम की सूचना यों दी है—'भट्ट-श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम' और इस विषय में मत-मतान्तर का परीक्षण करते हुए विद्वानों ने कवि का पैतृक नाम भवभूति ही उचित ठहराया है।

(2) **भौगोलिक**—भवभूति कहाँ उत्पन्न हुए, इसकी सूचना उनके इस छोटे-से वाक्य से प्राप्त होती है—'अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्।' दक्षिणापथ में संस्थित विदर्भ देश के पद्मपुर नामक नगर में कवि का जन्म हुआ था। प्रस्तुत वाक्य में प्रयुक्त तीनों शब्द भवभूति के भौगोलिक परिवेश को इंगित करते हैं। कामसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार यशोधर के अनुसार दक्षिणापथ से सामान्यतः नर्मदा का दक्षिणवर्ती भू-भाग या देश समझा जाता है—'नर्मदाया दक्षिणेन देशो दक्षिणापथः।'[1] कवि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इसी तथ्य को प्रकारान्तर से इन शब्दों में व्यक्त किया है—'माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः।'[2] इसके अनुसार माहिष्मती के परवर्ती देश का नाम दक्षिणापथ है। डॉ॰ मिराशी माहिष्मती को नेमाड जिले के अन्तर्गत आधुनिक महेश्वर से अभिन्न मानते हैं।[3] विदर्भ प्राचीन भारत का सुप्रसिद्ध देश रहा है। यहाँ वाकाटक राजाओं ने 250 ई॰ से लेकर 510 ई॰ पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से शासन किया था। सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल को विदर्भ का स्वर्णयुग माना गया है; कारण, इसी काल में राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में विदर्भ की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। इसी तरह संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य तथा शिल्प एवं कला के विविध क्षेत्रों में भी यह काल अत्यंत उर्वर माना गया है।[4] भवभूति की साहित्यिक गतिविधि का जो समय (700–730 ई॰) विद्वानों द्वारा निर्धारित है इसके प्रथमांश में विदर्भ राष्ट्रकूट राजा नन्नराज (690–715 ई॰) द्वारा शासित था।[5] हम यहाँ विदर्भ की तत्कालीन राजनैतिक अथवा ऐतिहासिक स्थिति के विस्तार में न जाकर केवल इतना कहना पर्याप्त समझते हैं कि प्राचीन विदर्भ की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समृद्धि भवभूति को विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी।

भौगोलिक दृष्टि से दक्षिणापथ एवं विदर्भ के बाद पद्मपुर की चर्चा का विशेष महत्त्व है। यह वह पवित्र नगर या स्थान है, जिसकी मिट्टी को भवभूति जैसे महाकवि को प्रसूत करने का श्रेय मिला। स्वभावतः विद्वानों ने इस नगर की वास्तविक स्थिति को लेकर अपने शोधपरक मंतव्य प्रस्तुत किए हैं। जिन विशिष्ट विद्वानों ने पद्मपुर

1. कामसूत्र (चौखम्बा संस्कृत सीरीज), पृ॰ 112
2. काव्यमीमांसा (जी॰ ओ॰ एस॰), पृ॰ 93
3. भवभूति : वी॰ वी॰ मिराशी (मोतीलाल बनारसीदास) पृ॰ 32
4. वही, पृ॰ 12
5. वही, पृ॰ 15

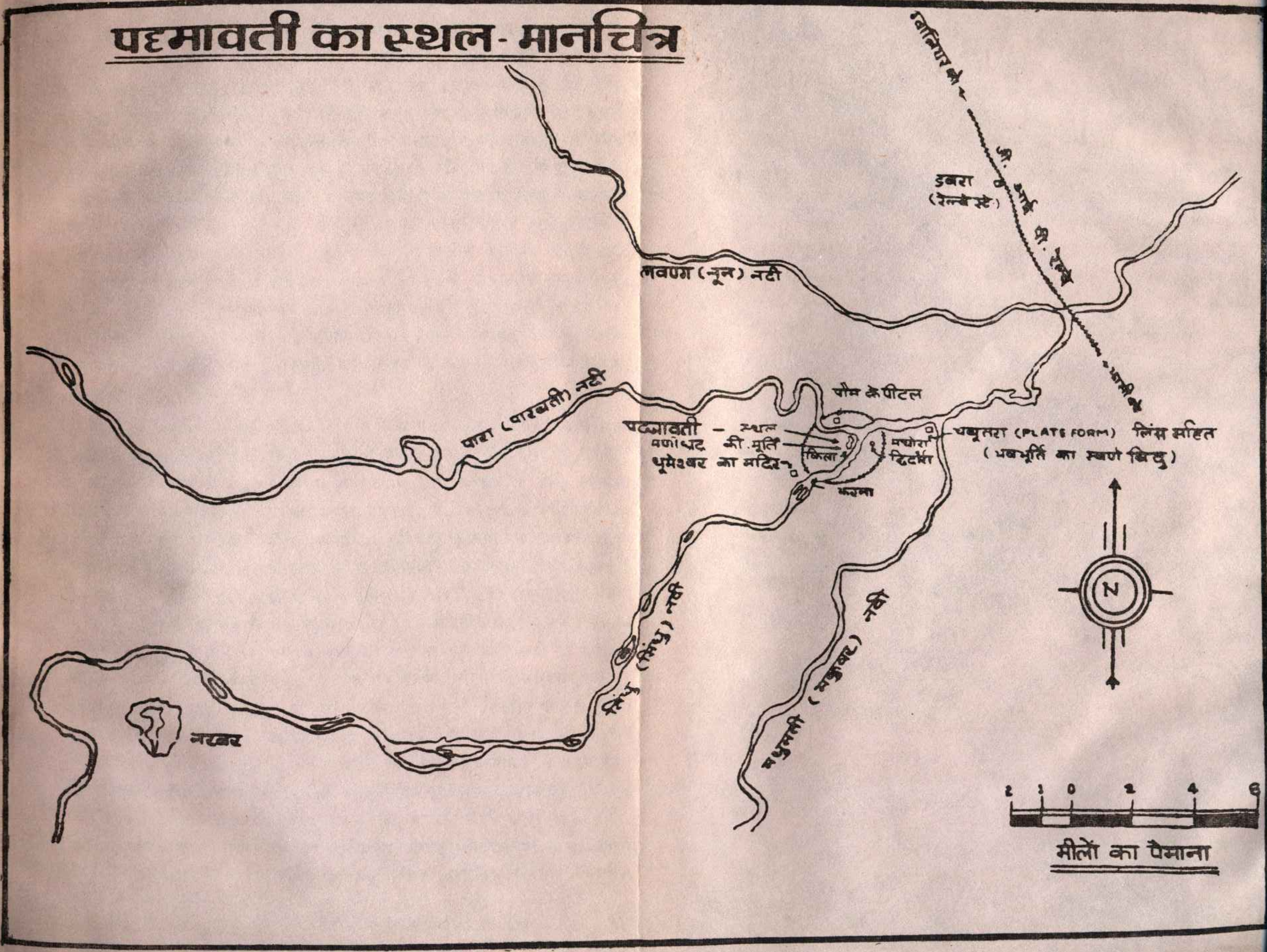

डॉ० एम० एल० शर्मा लिखित पुस्तक 'पद्मावती' से साभार

को अपनी गवेषणा का विषय बनाया है उनमें एम० वी० लेले, एस० के० बेलवल्कर, वी० वी० मिराशी एवं पी० वी० काणे प्रमुख हैं। इन विद्वानों में श्री लेले मालती-माधव के पुराने टीकाकार जगद्धर की उक्ति के साक्ष्य पर यह मानते हैं कि पद्मपुर वस्तुतः पद्मावती ही है। किन्तु उनकी इस स्थापना से स्वयं भवभूति द्वारा स्पष्ट रूप से उल्लिखित दक्षिणापथ एवं विदर्भ की सुविदित स्थिति खटाई में पड़ जाती है। इसीलिए इस संबंध का उनका तर्क स्वीकार नहीं हो सकता।[1] डॉ० मिराशी ने पुरातात्विक एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर अपना अभिमत दिया है कि भण्डारा जिले में आमगाँव रेलवे स्टेशन से लगभग ढाई मील की दूरी पर अवस्थित पद्मपुर नामक गाँव ही प्राचीन पद्मपुर माना जाना चाहिए, यद्यपि इस नाम के तीन गाँव इस क्षेत्र मे यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। डॉ० मिराशी द्वारा निर्दिष्ट पद्मपुर के आस-पास खुदाई से कई मूर्तियाँ, मंदिर आदि के भग्नावशेष मिले हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस गाँव के निकटवर्ती क्षेत्रों में अभी भी कई ब्राह्मण-परिवार हैं जो कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी हैं। स्वयं भवभूति का श्रोत्रिय ब्राह्मण-परिवार इसी शाखा का अनुयायी था।

(3) **धार्मिक**—यहाँ धार्मिक परिवेश के अन्तर्गत हम उस पूरी सामग्री का समाहार कर लेना चाहते हैं जिसे भवभूति ने अपने यशस्वी वंश आदि के वर्णन में अपने रूपकों, विशेषतः महावीरचरित की प्रस्तावना मे सूत्रधार के द्वारा उपन्यस्त कराया है। इस सम्बन्ध में जो वाक्य महत्त्व रखते हैं, वे हैं—'तत्र केचित्तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः······।' यहाँ प्रथम वाक्य में प्रयुक्त तैत्तिरीयी काश्यप, चरण गुरु, पंक्तिपावन, पंचाग्नि, धृतव्रत, सोमपीथी तथा ब्रह्मवादी विशेषण भारतीय धर्मशास्त्र के विशिष्ट सन्दर्भों एवं अर्थों से युक्त पारिभाषिक शब्द हैं। जब तक इन सभी शब्दों की अपेक्षित व्याख्या नहीं की जाए, भवभूति के सारस्वत एवं वैदिक महिमा से मण्डित कुल का धार्मिक स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। हम यहाँ विस्तार-भय से इतना कहकर ही संतोष कर लेते हैं कि भवभूति का काश्यपगोत्रीय, कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अनुयायी ब्राह्मणकुल अपनी शाखा के अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत रहने के कारण शास्त्रीय दृष्टि से 'चरणगुरु' था। यह विविध व्रतों तथा वाजपेय एवं सोमयाग का पवित्र अनुष्ठाता तथा पाँच पवित्र अग्नियों का आधान करने वाला था। अपनी इसी उज्ज्वल कीर्ति के कारण यह कुल पंक्तिपावन, अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मणों में भी अगली पंक्ति का अधिकारी था। 'ब्रह्मवादी' शब्द ब्रह्मविषयक दार्शनिक तत्त्वों में निष्णात

---

1. भवभूति : वी० वी० मिराशी (मोतीलाल बनारसीदास) पृ० 43

होने तथा व्यावहारिक आचरण में भी वैसी ही जीवन दृष्टि अपनाने का परिचायक है। धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्र में भवभूति के उक्त वचन यदि प्रधानतः सैद्धान्तिक ज्ञान के वाचक माने जायेंगे तो मालतीमाधव का अधोलिखित श्लोक मूलतः उसकी व्यावहारिक भित्ति की सम्पुष्टि करता है—

ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय भूरि श्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते ।
इष्टाय पूर्ताय च कर्मणेऽर्थान्दारानपत्याय तपोऽर्थमायुः ।।

—मा० मा० 1 : 5

अर्थात् ये लोग अपने वैदिक ज्ञान का प्रयोग तात्त्विक बोध के लिए करते थे (निरर्थक बकवास के लिए नहीं), अपने धन-धान्य का प्रयोग पवित्र यज्ञों के अनुष्ठान तथा सरोवर, कूप आदि जैसे धमार्थ कार्यों के लिए करते थे, संतति के लिए विवाह करते थे (आनन्द मनाने के लिए नहीं) तथा अपना जीवन तपश्चरण के लिए धारण करते थे (व्यर्थ में खोने के लिए नहीं)। इस प्रकार सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से भवभूति का परिवार सम्पूज्य एवं अनुकरणीय था। भवभूति ही क्यों, कोई भी व्यक्ति ऐसे कुल में जन्म लेकर अपना अहोभाग्य मान सकता है।

भवभूति का उक्त परिवेश उनकी रचनाओं में कहाँ-कहाँ किन-किन भंगिमाओं एवं रंगों में अंकित हुआ है, इस पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मेरी अपनी दृष्टि में भवभूति ने अपनी कृतियों में आस्था, सत्य, सदाचार, निर्भीकता, धर्म या कर्त्तव्य की बलिवेदी पर सर्वस्व-समर्पण जैसे मूल्यों की जैसी प्राणवान् प्रतिष्ठा की है, वैसा संस्कृत साहित्य का कोई भी दूसरा कवि नहीं कर पाया है। इन्होंने न केवल महत्तर जीवन की उदात्तता का उद्घोष किया है, प्रत्युत उसे उसी के सर्वथा अनुकूल गरिमामयी वाणी भी प्रदान की है। यह सब कुछ उनके परिवेश से निरपेक्ष नहीं है। वस्तुतः उनकी साहित्यिक चेतना आद्यंत अपने परिवेश की गरिमा से रेखांकित है। अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने इसी परिवेश के तपःपूत आदर्शों को विश्वजनीन बनाकर 'भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः' के रूप में स्थापित किया है।

रचनाकाल

ऊपर भवभूति के परिवेश के सन्दर्भ में जो चर्चा की गई, दुर्भाग्य से इस महाकवि के काल-निर्धारण में इसका कोई प्रत्यक्ष योगदान दृष्टिगत नहीं होता। इस सम्बन्ध में जो बाह्य प्रमाण मिलते हैं, वे कहीं अधिक मूल्यवान् हैं। अंतःसाक्ष्य में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भवभूति की नाट्य शैली उस युग की उपज है जिसमें संस्कृत भाषा पर से अलंकारों का बोझ उतरने लगा था तथा उसका वाक्य-विन्यास ओज.समासभूयस्त्व से ग्रस्त होने लगा था। बाणभट्ट में इस गद्यशैली का चरमरूप देखा जा सकता है। यदि भवभूति गद्य काव्य के क्षेत्र में उतरे होते तो

सम्भवतः उनकी शैली बाण से अधिक मिलती-जुलती होती। दृश्यकाव्य के क्षेत्र में भी वे यदा-कदा सीमित संदर्भ में ही सही, बाण की याद दिला देते हैं। बाण का समय निश्चित है। वे अपने आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्द्धन की राजसभा के सम्मानित कवि थे। हर्ष का शासन 606–647 ई० तक रहा। अपने आत्मकथा मूलक गद्यकाव्य हर्षचरित के आरम्भ में बाण ने अपने पूर्ववर्ती कई कवियों या उनकी विशिष्ट कृतियों का उल्लेख किया है। यदि भवभूति उनके पहले हुए होते तो सम्भवतः इनके जैसे महाकवि का नाम वे अपनी सूची में अवश्य रखते। इससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि सातवीं शताब्दी के मध्यकाल तक भवभूति अवतीर्ण नहीं हुए थे। यदि हुए भी हों तो अभी छोटे बच्चे रहे होंगे। यह भवभूति के रचनाकाल की पूर्वसीमा मानी जा सकती है।

भवभूति के रचनाकाल की उत्तर सीमा की पुष्टि 800 ई० के आगे अनेक प्रमाणों से होने लगती है। डॉ० काणे ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के प्रणेता आचार्य वामन का समय 800 ई० माना है।[1] वामन ने अपने ग्रन्थ में भवभूति के दो श्लोक उदाहृत किये हैं। प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल (885-910 ई०) एवं महीपाल (910-919 ई०) की राजसभा के कवि राजशेखर ने तो अपनी बालरामायण की प्रस्तावना में स्वयं को भवभूति का अवतार ही घोषित कर दिया है।[2] स्पष्ट है कि भवभूति उक्त दोनों के पूर्ववर्ती थे।

इस प्रकार उत्तरसीमा एवं पूर्वसीमा के उल्लिखित कालों के बीच अर्थात् 700 ई० के आस-पास एवं 800 ई० के पूर्व, कहीं-न-कहीं भवभूति का रचनाकाल होना चाहिए। इस समय का निर्धारण भी खोजी विद्वानों ने कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर कर लिया है। काश्मीर के सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक कल्हण ने अपनी कृति राजतरंगिणी में कन्नौज के राजा यशोवर्मन पर कर्कोटवंशीय राजा ललितादित्य-मुक्तापीड की विजय का वर्णन करते हुए निम्नलिखित श्लोक में यशोवर्मन् की राजसभा के कवि वाक्पतिराज के साथ भवभूति का भी नामोल्लेख किया है—

कविर्वाक्पतिराजश्री भवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ —रा० त० 4.144

राजतरंगिणी ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है। यों तो हमारे देश में विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव रहा है, किन्तु कल्हण वैसे गिने-चुने लेखकों में हैं जिन्होंने अपने समय तक प्राप्त विविध ऐतिहासिक आँकड़ों को एकत्र करके एक अपेक्षाकृत व्यवस्थित ऐतिहासिक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यहाँ उक्त श्लोक में भवभूति का सम्बन्ध यशोवर्मन् से दिखाने में उनके सामने अवश्य ही कोई तद्विषयक परम्परा

1. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स : पी० वी० काणे, पृ० 93।
2. बालरामायण : 1 : 16।

या सामग्री रही होगी। यह आश्चर्य की ही बात है कि बाणभट्ट आदि की तरह स्वयं भवभूति ने अपनी तीनों नाट्य कृतियों में कहीं भी अपने आश्रयदाता किसी राजा की ओर संकेत नहीं किया है। इन कृतियों से तो ऐसा लक्षित होता है कि कवि का जीवन संघर्ष एवं अभावों के बीच बीता था। अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अपनी कृतियों का समापन कर चुकने के बाद ही वे यशोवर्मन् द्वारा सम्मानित किये गये होंगे। कल्हण की उक्त स्थापना की पुष्टि वाक्पतिराज के प्राकृत महाकाव्य गौडवहो के निम्न गाथा से भी होती है—

भवभूइजलहिणिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु॥
(भवभूतिजलधिनिर्गत काव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥)

वाक्पतिराज ने यहाँ जिन शब्दों में भवभूति के रसमय कवित्व की प्रशंसा की है उससे स्पष्ट होता है कि यशोवर्मन् की राजसभा में भवभूति उनसे वरिष्ठ सदस्य रहे होंगे। इससे इस बात का भी संकेत मिलता है कि गौडवहो की रचना के समय स्वयं वाक्पतिराज यशोवर्मन् की राजसभा से सम्बद्ध अवश्य थे, अन्यथा वे गौडवहो में यशोवर्मन् की यशोगाथा का गायन नहीं करते। गौडवहो की रचना कब हुई, इसकी सूचना हमें उसी काव्यकृति में एक जगह सूर्यग्रहण के वर्णन से प्राप्त होती है। जैकोबी ने अपनी गणना के अनुसार इस सूर्यग्रहण का समय 14 अक्टूबर, 733 ई० माना है। इसका मतलब यह हुआ कि भवभूति 733 ई० के पूर्व ही आठवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में विद्यमान होंगे।

यदि राजा यशोवर्मन् का समय निश्चित कर लिया जाए तो उक्त अनुमान को और भी बल मिल सकता है। इसके लिए भी राजतरंगिणी का ही आश्रय लेना पड़ता है। काश्मीर के राजा ललितादित्य-मुक्तापीड से यशोवर्मन पराजित हुए थे, इसके वर्णन से यशोवर्मन् के समय पर भी प्रकाश पड़ता है। डॉ० मिराशी राजतरंगिणी के तिथि सम्बन्धी आँकड़ों का परीक्षण करके इस पुस्तक के साक्ष्य पर ललितादित्य का समय 693-730 ई० निश्चित करते हैं। किन्तु यह तिथि जैकोबी द्वारा निर्धारित सूर्यग्रहण के समय से मेल नहीं खाती। इस समस्या के समाधान के लिए हमें तत्कालीन चीनी-साहित्य से मदद लेनी पड़ती है। चीनी परम्परा में बहुत प्राचीन काल से ही इतिहास-बोध भारतीयों की अपेक्षा अधिक विकसित था, अतः चीनियों के द्वारा अंकित अथवा सूचित ऐतिहासिक आँकड़े कहीं ज्यादा विश्वसनीय माने जा सकते हैं।

उस युग मे भारतीय एवं चीनी राजाओं के बीच अपने-अपने राज दरबारों में

एक-दूसरे के दूत रखने की प्रथा चल पड़ी थी । यद्यपि भारतीय साहित्य परम्परा में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि किसी भारतीय राजा ने अपने यहाँ कोई चीनी दूत रखा हो, किन्तु समकालीन चीनी इतिहास में ऐसे कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे पता लगता है कि कई चीनी राजाओं के दरबार में भारतीय दूत विद्यमान थे । उदाहरण के लिए तेंग राजाओं की वंशावली के इतिहास में एक जगह उल्लेख आया है कि भारतीय राजा त्चेन्तो-लो-पिलि (अर्थात् ललितादित्य के द्वितीय पूर्ववर्ती राजा चन्द्रापीड) ने अरबों के आक्रमण को व्यर्थ कर देने के लिए 713 ई० में अपना दूत भेजकर चीनी सम्राट से सहायता की याचना की थी । ऐसे ही कुछ दूसरे आँकड़ों के आधार पर यह निश्चित कर लिया गया है कि ललितादित्य का शासनकाल 724 से 761 ई० तक रहा । यह तिथि उक्त सूर्यग्रहण की तिथि 733 ई० से भी मेल खाती है । चूँकि इसी समय यशोवर्मन् का अपना सैनिक अभियान शुरू हुआ था जो बाद में ललितादित्य द्वारा उनकी पराजय का कारण बना ।

इस प्रकार आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के आँकड़ों के तुलनात्मक विश्लेषण से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वाक्पतिराज ने अपना गौडवहो 735 ई० में समाप्त किया होगा जिस समय तक भवभूति इस धराधाम से विदा ले चुके होंगे । इस आधार पर विद्वानों ने बहुत सोच समझ कर भवभूति का रचनाकाल 700 से 730 ई० के बीच रखा है । भवभूति के इस कालनिर्धारण में अधिक से अधिक दस-पाँच वर्षों का ही उलट-फेर हो सकता है जो इस प्रकार के अप्रत्यक्ष ऐतिहासिक आँकड़ों के परीक्षण में सर्वथा स्वाभाविक है । निश्चय ही भवभूति संबंधी यह कालनिर्धारण निर्विवाद माना जा सकता है, यहाँ कालिदास आदि कवियों के कालनिर्धारण की तरह कई वर्षों और कभी-कभी तो कई शताब्दियों तक का अन्तर नहीं दिखाया जा सकता ।

ऊपर भवभूति के परिवेश एवं रचनाकाल से सम्बद्ध जो रेखाएँ खींची गई हैं, भवभूति के साहित्य समीक्षक के लिए निश्चय ही वे एक सुदृढ़ आलंबन का काम करती हैं । उस विशिष्ट परिवेश एवं रचनाकाल की भौतिक सीमाओं में रहकर भवभूति ने अपने पूर्ववर्तियों या समकालीन जीवन से क्या कुछ लिया और यहाँ उनकी अपनी उत्तमर्णता क्या रही, इसका विश्लेषण आसान हो जाता है । अन्यथा ऐतिहासिक अथवा तत्कालीन सांस्कृतिक दृष्टि के अभाव में भवभूति का शास्त्रीय या व्यावहारिक कोई भी मूल्यांकन अपूर्ण ही माना जाएगा ।

———

महाकवि भवभूति और पद्मावती

डा० सीताराम दांतरे

संस्कृत के महान् कवियों के व्यक्तित्व की झलक तो उनकी कृतियों में मिल जाती है, किन्तु उनके काल, निवास-स्थल एवं जीवनवृत्त के विषय में अन्त: एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अटकलें लगानी पड़ती हैं। महाकवि भवभूति ने अपने नाटकों में अपने पूर्वजों तथा उनके निवास-स्थल का उल्लेख किया है। इस आधार पर महा-महोपाध्याय डॉ० वासुदेव विष्णु जी ने अपने एक लेख (Birth place of Bhava-bhuti[1]) में महाकवि का स्थान निर्धारित करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने शोध का आधार महावीरचरित एवं मालती माधव नाटकों की प्रस्तावनाओं में कवि परिचय के प्रारम्भिक वाक्य "अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम" के आधार पर पद्मपुर नाम वाले स्थानों की छानबीन करते हुए 6 ग्रामों का पता लगाया जो चांदा एवं भण्डारा जिलों में हैं।[2] इनमें से भण्डारा जिले में आमगाँव के निकट स्थित पद्मपुर नामक एक स्थान की खुदाई में मंदिर, मूर्तियाँ आदि के पुरातत्त्वीय महत्त्व के मध्य-युगीन अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। यह नगर कभी भारत का प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र रहा है, यह तो स्पष्ट इन अवशेषों से हो जाता है। इसके साथ ही डॉ० मिराशी जी ने दुर्ग जिले के मोहल्ला ग्राम से प्राप्त वाकाटक नरेश के एक दान पत्र का उल्लेख किया है जो पद्मपुर से प्रदान किया गया था। इतिहास के साक्ष्य के अनुसार वाकाटक नरेश वैदिक धर्म के अनुसर्ता होने के साथ वैदिक अध्ययन एवं उसमें निष्णात ब्राह्मणों के संरक्षक थे। अत: इस बात की पर्याप्त संभावना बन जाती है कि भवभूति के पूर्वजों

1. Studies in Indology Vol. I. pp. 21–34
2. तदैव पृ० 27

को वाकाटक नरेशों से संरक्षण प्राप्त हुआ होगा तथा उनकी आजीविका के लिये भूमि आदि भी मिल गयी होगी। डॉ० मिराशी जी ने इस पद्मपुर को भवभूति के पूर्वजों की नगरी तथा भवभूति की जन्मस्थली होने की पुष्टि में दो अन्तःसाक्ष्यों को जोड़ने की चेष्टा की है—1. पद्मपुर को घेरने वाली पहाड़ी, तथा उसके परिसर के घने वन जिसमें तेंदुए जैसे हिंसक पशु तथा भयानक सर्पों का निवास रहा है, भवभूति के लिये उत्तर रामचरित नाटक से दण्डकारण्य का वर्णन करने में कल्पना के स्रोत रहे होंगे[1] तथा पद्मपुर के समीपवर्ती ग्रामों में अभी भी तैत्तिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मणों, जिस वर्ग से भवभूति के पूर्वज सम्बद्ध थे, का निवास है।[2]

डॉ० मिराशी जी के इस सिद्धान्त पर अन्य विद्वानों के मतों का विवेचन करने के पूर्व मैं सन्दर्भित लेख में डॉ० मिराशी जी द्वारा प्रस्तुत उन तथ्यों की ओर संकेत करना उचित समझता हूँ जो उनके सिद्धान्त को निर्बल करते हैं। डॉ० मिराशी जी के शब्दों में—

There was, in the later half of the sixth century A. D., no great king ruling at Padmapura, who could have invited the fourth ancestor of the poet to settle in the capital.

......In the begining of the eigth century A. D. when Bhavabhuti flourished, there was no great king ruling in Vidarbha...... In the absence of royal patronage Bhavabhuti was obliged to seek his fortune in the north and ultimately became attached to the court of Yashovarman, the mighty king of Kanauj.[3]

इससे स्पष्ट है कि भवभूति से चार पीढ़ियों पूर्व तक इस पद्मपुर में ब्राह्मणों तथा विद्वानों का संरक्षक कोई नहीं था। तब यह केवल कल्पना रह जाती है कि संरक्षण के अभाव में भवभूति ने पद्मपुर त्याग कर उत्तर दिशा में कन्नौज के राजा यशोवर्मन के यहाँ जाकर आश्रय प्राप्त किया हो। डॉ० मिराशी ने पद्मपुर के वन्य परिवेश की जानकारी सेन्ट्रल प्रोविन्स गजेटियर से प्राप्त की तथा उसका प्रभाव उनकी अन्तिम कृति उत्तर रामचरित पर सिद्ध करने की चेष्टा की जबकि महावीरचरित एवं मालती माधव में भी वन्य चित्रण के पर्याप्त प्रसंग थे। उनमें भवभूति ने पद्मपुर के परिवेश का वर्णन क्यों उपयुक्त नहीं समझा।

डॉ० एस० के० बेल्वेल्कर ने उत्तर रामचरित नाटक की भूमिका में पद्मपुर की ध्रुवस्थिति पर विचार करते हुए उसे विदर्भ प्रान्त (वर्तमान बरार) का कोई नगर

1. Studies in Indology Vol. I. P. 32
2. तदैव, पृष्ठ 33
3. तदैव, पृष्ठ 26

बतलाया है। डॉ० पी० वी० काणे[1] ने भी स्वसम्पादित उत्तर रामचरित की भूमिका में पद्मपुर को विदर्भ का ही एक नगर माना है, किन्तु वे प्रो० मिराशी जी के मत से प्रमुख रूप से इस कारण सहमत नहीं हैं कि भण्डारा जिला वर्तमान बरार में नहीं आता, अतः आमगाँव के निकट का पद्मपुर विदर्भ प्रदेश का नगर नहीं माना जा सकता। इसके साथ ही उन्होंने प्रो० मिराशी जी के अनुमान को संदिग्ध हेतुक बतलाया है क्योंकि--1. अन्य पद्मपुर नामक स्थानों की खुदाई नहीं की गयी है, संभव है समुचित खोज होने पर वहाँ भी पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध हो सकें, 2. आमगाँव के निकट वाला पद्मपुर ही वाकाटकों की राजधानी थी–यह संदिग्ध है क्योंकि उनका दानपत्र वहाँ से लगभग 100 मील दूर प्राप्त हुआ है तथा वहां प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष दशवीं शती के पश्चात् के हैं, 3. जिस दानपत्र को प्रो० मिराशी जी ने आधार माना है वह नकली भी हो सकता है। यद्यपि इन आक्षेपों का उत्तर प्रो० मिराशी जी ने अपने दूसरे लेख मे[2] दिया है किन्तु वह सम्यक् प्रमाणों पर आधारित नहीं है।

डॉ० आर० जी० हर्ष ने अपने शोध प्रबन्ध में इस विषय का विवेचन करते हुए डॉ० आर० जी० भंडारकर के मत को ही मान्यता प्रदान की है। डॉ० भंडारकर ने मालती माधव नाटक की टीका में पद्मपुर की स्थिति पर विचार किया है तथा विदर्भ में चन्द्रपुर (वर्तमान चांदा) की महाभारत काल से प्रसिद्धि स्थापित करते हुए उसके निकट पद्मपुर को ही भवभूति का निवास स्थल माना है। डॉ० हर्ष ने चांदा गजेटियर के आधार पर इसे भी गहन वनों से घिरा हुआ क्षेत्र निरूपित किया है। उन्होंने ह्वेनसांग के विवरणों के आधार पर चन्द्रपुर एवं पद्मपुर के निकट भद्रावती को कौशलों की राजधानी माना है जिसके आस-पास ह्वेनसांग के काल में अनेक हिन्दू मन्दिर तथा बौद्ध विहार थे।[3] अपने विवेचन में डॉ० हर्ष ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि मालतीमाधव प्रकरण में भवभूति ने जो बौद्ध भिक्षुणियों तथा तान्त्रिकों का वर्णन किया है वह इसी पद्मपुर क्षेत्र का है जहाँ बौद्ध बिहारों के साथ एक काली देवी के अति प्राचीन मन्दिर के मूर्ति सहित अवशेष मिले हैं। डॉ० हर्ष ने यह भी कल्पना की है कि भवभूति के याज्ञिक पूर्वजों को धार्मिक कृत्यों में उदारतापूर्वक दक्षिणा देनी पड़ती होगी, जो राजाश्रय के बिना सम्भव नहीं, अतः कौशल-नरेशों के आश्रय में उनके निवास को स्वीकृत किया जाना उचित होगा।

डॉ० हर्ष के पश्चात् डॉ० बृजबल्लभ शर्मा, डॉ० विमला गेरा एवं डॉ० अयोध्याप्रसाद सिंह ने भी अपने शोध प्रबन्धों में भवभूति के पद्मपुर पर विचार किया

1. Introduction to Uttar Ram-Charita pp. 6--10
2. Studies in Indology Vol. IV pp. 65--72
3. Life and works of Bhavabhuti p. 7

है किन्तु किसी भी मनीषी ने अपनी मान्यता व्यक्त न करते हुए उक्त धारणाओं में से ही किसी एक को स्वीकार कर लिया है।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने मालती माधव के टीकाकार जगद्धर तथा त्रिपुरारि के आधार पर पद्मावती को ही भवभूति का निवास स्थल पद्मपुर माना है। मेजर आर्थर कनिंघम ने मालती माधव में सिन्धु एवं पार्वती नदियों के वर्णन के आधार पर शिवपुरी मण्डलान्तर्गत तथा तत्कालीन ग्वालियर राज्य के ग्राम नरवर को पद्मावती से अभिन्न माना[1], किन्तु उनका भूल सुधार ग्वालियर राज्य के पुरातत्व निदेशक श्री एम० बी० गर्दे ने किया।[2] श्री गर्दे ने पार्वती एवं सिन्धु नदियों के संगम पर स्थित पवाया ग्राम को असंदिग्ध रूप से पद्मावती सिद्ध किया है। इस प्रसंग में मालतीमाधव के कुछ भौगोलिक सन्दर्भों को मूल रूप से यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा :

चतुर्थांक में मकरन्द मित्र माधव से कहता है—तदुत्तिष्ठ। पारासिन्धुसंभेदमवगाह्य नगरमेव प्रविशाव ।

नवमांक के पूर्व विष्कम्भक में सौदामिनी द्वारा दीर्घ संवाद में नगर का वर्णन—

पद्मावती विमलवारि विशालसिन्धु–
पारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति ।
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट–
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम् ॥

अपि च,

सैंधा विभाति लवणा वलितोर्मिपङ्क्ति–
रभ्रागमे जनपद प्रमदाय यस्याः ।
गोगर्भिणीप्रिय नवोत्पलमालभारि
सेव्योपकण्ठविपिनावलयो विभान्ति ॥

(अन्यतो विलोक्य) स एष भगवत्याः सिन्धोर्दारितरसातलस्तटप्रपातः ।

यत्रत्य एष तुमुलध्वनिरम्बुगर्भ–
गम्भीरनूतनघनस्तनित प्रचण्डः ।
पर्यन्तभूधरनिकुञ्ज विजृम्भणेन
हेरम्बकण्ठरसित प्रतिमानमेति ॥

एवा स्यन्दनाश्वकर्णसरलपाटलाप्रायतरुगहनाः परिणतमालूर–सुरभयोऽरण्यगिरिभूमयः स्मारयन्ति......दक्षिणारण्यभूधरान् ।

अयं च मधुमती सिन्धुसंभेदपावनो भगवान्भवानीपतिरपौरुषेय–प्रतिष्ठः सुवर्ण बिन्दुरित्याख्यायते ।

1. Coins of Medieval India pp. 20–22
2. Archeologieal Survey of India (1915–16) pp. 101–109

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पद्मावती नगरी में एक ओर से प्रवेश करने पर पारा (वर्तमान पार्वती) तथा सिन्धु नदियों के संगम को पार करना होता है। इसके समीप ही लवणा (वर्तमान लून) नदी प्रवाहित है। सिन्धु नदी पर एक जल प्रपात भी है तथा आगे सिन्धु एवं मधुमती (वर्तमान महुअर) नदियों के संगम पर सुवर्ण बिन्दु नाम से प्रसिद्ध भगवान् शिव का मन्दिर है। स्यन्दन एवं अश्वकर्ण–वृक्षों की पहिचान उनके अर्वाचीन पर्यायों से की जानी है किन्तु सरल (साल), पाटल (छेवला) तथा मालूर (गूलर) वृक्ष इस क्षेत्र में पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। समस्त सन्दर्भित नदियों के जल प्रपात की स्थिति लेख के अन्त में दिये मानचित्र से स्पष्ट हो जाती है। इस आधार पर मालतीमाधव में वर्णित नगरी पद्मावती को वर्तमान पवाया ग्राम से अभिन्न मानना उचित होगा।

श्री एम० वी० लेले ने इस आधार को स्वीकारते हुए कालप्रियनाथ मन्दिर (जिसकी तत्कालीन स्थिति वर्तमान यमुनातटवर्ती कानपुर के निकट कालपी नगर में मानी गयी है) को अपनी मान्यता की पुष्टि में लिया है।[1] उनके अनुसार कालपी नगर पवाया से उत्तर में है अतः भवभूति के नाटकों के अभिनय स्थल से पवाया दक्षिण पथ पर ही स्थित होगा। इसके साथ ही मालतीमाधव एवं महावीर चरित की कुछ प्राचीन पाण्डुलिपियों में विदर्भेषु शब्द प्राप्त नहीं होता। यदि इस शब्द को प्रक्षिप्त मान लिया जावे तो पद्मावती तथा पद्मपुर अभिन्न कहे जा सकते हैं।

भवभूति के निवास नगर का निर्धारण करते समय कालप्रियनाथ की स्थिति पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है, यद्यपि विद्वानों ने इसको अधिक महत्व न देते हुए पद्मपुर में अथवा उसके निकट का कोई शिवमन्दिर मान लिया है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भवभूति के तीनों नाटकों की प्रस्तावना में नाटकों का अभिनय भगवान कालप्रियनाथ के यात्रोत्सव के अवसर पर किया जाता हुआ बतलाया गया है। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—1. कालप्रियनाथ का मन्दिर उस समय का कोई अति प्रसिद्ध विशाल प्रांगण वाला मन्दिर था जिसके यात्रोत्सव पर दूर-दूर से लोग एकत्रित होते होंगे, 2. यह मन्दिर भवभूति के गृह नगर से नातिदूर अवस्थित होगा। उत्तर रामचरित नाटक के टीकाकार रामचन्द्र बुधेन्द्र ने इस देवमन्दिर को पद्मनगर (पद्मपुर) में ही अवस्थित माना है। किन्तु इस स्थिति में सूत्रधार द्वारा दक्षिणापथ में पद्मपुर का अपरिचित स्थान की तरह वर्णन उचित नहीं लगता। डॉ० काले आदि कतिपय विद्वानों ने प्रसिद्धि के आधार पर उज्जयिनी स्थित महाकाल मन्दिर को ही कालप्रिय नाथ माना है तथा यहाँ पाठ संशोधन करते हुए कालप्रियनाथ शब्द स्वीकार किया है। प्रो० मिराशी जी ने इस पर अनेक आपत्तियाँ उठाते हुए कालप्रियनाथ को पुराणों में वर्णित प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर माना है। यहाँ मैं उन आपत्तियों का विस्तार से उल्लेख

1. CF. Mind and Art of Bhavabhuti. P. 7

अभीष्ट नहीं समझता हूँ। इतना संकेत देना पर्याप्त होगा कि कालप्रियनाथ को शिव मानकर एक मात्र प्रसिद्ध महाकाल मन्दिर को भवभूति के नाटकों का अभिनय स्थल कल्पित करना पूर्णतया निराधार है, क्योंकि वह स्थान किसी भी पद्मपुर अथवा पद्मावती के निकट नहीं है जहाँ बार-बार जाकर प्रदर्शन किया जा सकता हो। महामहोपाध्याय मिराशी जी ने भविष्य, वराह एवं स्कन्द पुराणों के संदर्भों द्वारा यह सिद्ध किया है[1] कि भवभूति द्वारा वर्णित कालप्रियनाथ का मन्दिर प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर है जिसकी स्थापना कृष्ण के पुत्र साम्ब ने यमुना नदी के दक्षिण तीर पर की थी। डॉ० मिराशी जी ने अपने मत की पुष्टि में एक अभिलेखीय प्रमाण भी दिया है, जिसके अनुसार राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने 915 ई० में राज्यारोहण के पश्चात् उत्तर भारत में कन्नौज तक आक्रमण किया था तथा इस प्रयाण में मार्ग में यमुना पार करने के पूर्व उसने कालप्रिय के प्रांगण में सेना सहित पड़ाव डाला था। डॉ० मिराशी जी ने एपिग्राफिका इण्डिका खण्ड 7 पृष्ठ 38 से एक पद्य उद्धृत किया है—

यन्माद्यद्द्विपदन्तघातविषमं कालप्रियप्राङ्गणं
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धु प्रतिस्पर्धिनी।
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मीलितं
नाम्नाऽद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते॥

डॉ० मिराशी जी ने इससे दो निष्कर्ष निकाले हैं—1. कालप्रिय का प्रांगण इतना बड़ा था कि हाथी-घोड़ों से युक्त सेना का उसमें पड़ाव पड़ सकता था तथा 2. दक्षिण से उत्तर की ओर की यात्रा में यह एक प्रसिद्ध स्थान था जिसका वर्णन अभिलेखों में हुआ है। कालप्रिय का मन्दिर एक सूर्य मन्दिर रहा होगा इस अनुमान की पुष्टि डॉ० मिराशी जी ने मालती माधव में प्रारम्भ में आये सूर्य के स्तुत्यात्मक पद्य 'कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते' आदि से की है। इस लेख के अन्त में डॉ० मिराशी जी ने यह भी अनुमान लगाया है कि कालपी नगर (जो कि कन्नौज से मात्र 85 मील दक्षिण में है) में अवस्थित कालप्रियनाथ के मन्दिर में अभिनीत नाटकों से ख्याति अर्जित करने पर भवभूति को कन्नौज नरेश यशोवर्मन ने अपनी सभा में आमंत्रित किया होगा।[2] डॉ० मिराशी जी ने अपने एक अन्य लेख में महाकवि भवभूति के रचना काल को तीन खण्डों में विभाजित किया है। तदनुसार प्रथम महावीर चरित की रचना पद्मपुर में हुई होगी जिसकी आलोचना से खिन्न होकर उन्होंने स्थान त्याग उचित समझा तथा पद्मावती में पहुँचे वहाँ मालतीमाधव से प्रसिद्धि प्राप्त कर उन्होंने कन्नौज में यशोवर्मा की सभा में स्थान बनाया तथा उत्तर रामचरित की रचना की।

1. Studies in Indology Vol. I pp. 38-40.
2. —do— p. 42.

पद्मपुर की स्थिति के विषय में ऊपर जिन मतों का उल्लेख हुआ है वे सभी कल्पना एवं अनुमान पर आधारित हैं अतः उत्तरकालीन अनुसंधित्सुओं ने उचित ही उनका कोई विवेचन न करते हुए उन्हें यथावत् स्वीकार कर लिया है। भवभूति के पूर्वजों को वाकाटकों का संरक्षण प्राप्त हुआ था अथवा कौसलों का, इस विषय में कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं। भवभूति कन्नौज नरेश यशोवर्मा की सभा में रहे हैं, कल्हण की राजतरंगिणी में आये इस उल्लेख[1] को पूर्ण प्रामाणिक न मानते हुए भी विरोधी प्रमाण के अभाव में विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है। पद्मावती नगरी जो ईसा पश्चात् तृतीय शताब्दी तक नागवंशी शासकों की राजधानी रही थी, बाद में गुप्त सम्राटों के अधीन हो गयी और अन्ततः कन्नौज के राज्य के अन्तर्गत आ गयी। इसका यद्यपि सीधा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु ललितादित्य से यशोवर्मा के पराजित होने पर यशोवर्मा का पुत्र भागकर ग्वालियर आ गया था ऐसा उल्लेख मिलता है। कन्नौज के राजकुमार ने ग्वालियर में किसी अन्य शासक के यहाँ शरण नहीं ली थी अपितु स्वयं के राज्य क्षेत्र के सुदूरवर्ती सुरक्षित स्थल में ही वह आया था। पद्मावती नागवंशी राजाओं की राजधानी रही यह प्रमाण पुराणों में मिलता है। डॉ० एम० एल० शर्मा ने अपनी पुस्तक पद्मावती में उद्धृत किया है—

नवनागाः पद्मावत्यां कान्तिपुर्यां मथुरायाम्।
अनुगंगाप्रयाग मागधा गुप्ताश्च मोक्ष्यन्ति ॥[2]

इसके ध्वंसावशेष जिनमें शिवलिंग युक्त चबूतरा तथा बुद्ध की मूर्ति भी सम्मिलित है, मालतीमाधव प्रकरण के परिवेश की पुष्टि करते हैं। इस बुद्ध मूर्ति की चरण चौकी पर जो अक्षर अंकित हैं वे श्री मो० व० गर्दे के अनुसार ईसा की सातवीं या आठवीं शती के होने चाहिये। सरस्वती कंठाभरण में पद्मावती के निकट नागवन तथा बौद्ध बिहार होने का उल्लेख करने वाला एक पद्य मिलता है—

पुरः पाराऽपारा तटभुवि विहारः पुरवरं
ततः सिन्धुः सिन्धुः फणपतिवनं पावनमतः।
तदग्रे तूदग्रो गिरिरिति गिरिस्तस्य पुरतो
विशाला शालाभिर्ललितललनाभिर्विजयते ॥[3]

इससे न केवल भवभूति के समय पद्मावती में बौद्धों की उपस्थिति सिद्ध होती है अपितु डॉ० मिराशी जी ने पद्मपुर के परिसर में पर्वत एवं सर्पादियुक्त वनों की

---

1. कविर्वाक्पतिराज श्री भवभूत्यादिसेवितः।
'जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥ राजतरंगिणी 4/144
2. पद्मावती पृ० 22 पादटिप्पणी
3. पद्मावती पृ० 11 वादटिप्पणी

स्थिति को उत्तर रामचरित में दण्डकारण्य के वर्णन में सहायक माना है। वह हेतु पद्मावती में भी समान रूप से उपस्थित है। डॉ० आर० जी० हर्ष ने चन्द्रपुर के निकट पद्मपुर को मानते हुये वहाँ वनों के अतिरिक्त हिन्दू मन्दिर तथा बौद्ध विहारों की उपस्थिति को ह्वेनसांग के यात्रा वर्णन के आधार पर मानकर मालतीमाधव की कथावस्तु से उसे जोड़ने का प्रयास किया है। वह भी पद्मावती में उन समस्त परिस्थितियों के एक साथ मिलने से अनावश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त पद्मावती में शिवलिंग नन्दी तथा अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ एक सूर्य स्तम्भ का शिखर भी मिला है जिसमें मध्य में प्रभामण्डल के दोनों ओर दो मुखाकृतियाँ बनी हुयी हैं। इससे प्रकट होता है कि पद्मावती में भी सूर्यदेव का कोई मन्दिर रहा होगा अथवा कम से कम वहाँ सूर्योपासक व्यक्ति रहते थे।

उक्त प्रमाणों से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि शिवपुरी से नरवर, डबरा होते हुए ग्वालियर जाने वाले मार्ग के पार्श्व में स्थित पद्मावती (वर्तमान पवाया) नगरी मालतीमाधव की दृश्यस्थली होने के साथ ही भवभूति की निवास स्थली भी रही थी, तभी तो मालतीमाधव में उन समस्त स्थलों का इतना सूक्ष्म वर्णन कर सके थे। यह नगरी कन्नौज राज्य के क्षेत्रान्तर्गत होने के साथ ही ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विद्वानों की निवास स्थली भी थी, क्योंकि भवभूति ने मालती-माधव में विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर के मन्त्रिपुत्र को अध्ययन हेतु पद्मावती आया हुआ बतलाया है। इस कथन द्वारा भवभूति ने अपनी निवास स्थली को सम्मान के साथ स्मरण किया है। साथ ही भवभूति ने विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर को माना है न कि पद्मपुर को, जिस कल्पना की पुष्टि हेतु डॉ० मिराशी जी ने अनेक प्रमाण देने का श्रम किया है। इस सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं डॉ० मिराशी जी द्वारा स्वीकृत कालप्रियनाथ का मन्दिर पद्मावती से नातिदूर है तथा प्राचीनकाल में यहाँ से सीधा मार्ग कालपी की ओर जाता था जिस रास्ते से 19वीं शती में भी महारानी लक्ष्मी बाई कालपी से वापस होकर ग्वालियर आयीं थीं। भवभूति के प्रथम नाटक महावीर-चरित की प्रस्तावना के अनुसार उसका अभिनय भी कालप्रियनाथ के यात्रोत्सव के समय हुआ था। फिर डॉ० मिराशी जी की यह धारणा निर्मूल हो जाती है कि महावीर चरित की आलोचना होने से खिन्न होकर भवभूति ने स्थान परिवर्तन किया होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि कालप्रियनाथ का मन्दिर पद्मावती में नहीं, अन्यथा पद्मावती का उल्लेख भी सभी नाटकों में होता। पद्मावती पद्मपुर से भिन्न है क्योंकि मालतीमाधव की प्रस्तावना में पद्मपुर शब्द ही आया है शेष नाटक में पद्मावती शब्द ही है।

महामहोपाध्याय डॉ० मिराशी जी की मान्यता को बल देने के लिये महावीर चरित की प्रस्तावना को बाद में जोड़ा हुआ माना जा सकता है किन्तु यह सम्भावना

तीनों नाटकों के विषय में की जा सकती है, तब पद्मपुर महाकवि भवभूति का मूल निवास था यही धारणा निराधार हो जावेगी। यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा के ब्राह्मण डॉ० मिराशी जी के अनुसार आमगाँव के निकट आज भी हैं, जबकि डॉ० आर० जी० भण्डारकर के अनुसार इस शाखा के ब्राह्मण चन्द्रपुर तथा उससे दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व में पाये जाते हैं। वस्तुतः याज्ञिक ब्राह्मणों को सर्वत्र धार्मिक वृत्ति के श्रेष्ठीजन आमन्त्रित करते थे, तथा वे श्रोत्रिय ब्राह्मण प्रायः कृष्णयजुर्वेदीय होते थे, अतः इस आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना त्रुटिपूर्ण होगा। डॉ० हर्ष ने ब्राह्मणों को दक्षिणा देने हेतु भवभूति के पूर्वजों को समृद्धिशाली राज्य के संरक्षण की अनिवार्यता बतलायी है, जो पद्मावती में भी नकारी नहीं जा सकती, क्योंकि यहाँ के प्राचीन इतिहास के साथ यक्ष की स्थूलकाय मूर्ति यहाँ की समृद्धि को सूचित करती है। तथापि भवभूति ने उत्तररामचरित में गोदावरी आदि नदियों के वर्णन के साथ मालतीमाधव में भी पद्मावती के वन प्रदेशों को गोदावरी परिसर के वनों के समान तथा यहाँ के पर्वतों को दक्षिण भारत के पर्वतों के समान निरूपित करते हुए दक्षिण भारत के प्रदेशों से अपना परिचय सूचित किया है। श्री एम० वी० लेले ने पद्मावती को ही पद्मपुर माना है। यद्यपि उनका आधार मालतीमाधव में पद्मावती का यथावत् चित्रण है किन्तु अन्य कल्पनाओं के समान यह कल्पना भी कठिन नहीं है कि 1. किसी ने प्रस्तावना में कवि परिचय में नाम बाद में जोड़ा हो। 2. स्थान नाम मूलतः पद्मावती रहा हो किन्तु किसी लिपिकार ने उसके स्थान पर पद्मपुर लिख दिया हो तथा 3. दक्षिणापथ शब्द प्रक्षिप्त हो। तथापि समग्र पाठ को वर्तमान स्वरूप में यथावत् मानते हुए तथा डॉ० मिराशी आदि विद्वानों के मतों को पूर्ण सम्मान देते हुए यह निष्कर्ष निकालना अधिक सुरक्षित होगा कि दक्षिण भारत के किसी पद्मपुर ग्राम से सम्बन्ध रखने वाले भवभूति के पूर्वज थे तथा उनका जन्म एवं बाल्यकाल भी वहीं बीता होगा। किन्तु अध्ययनार्थ इनका पद्मावती में आगमन हुआ और ये उपयुक्त वातावरण एवं आश्रय पाकर यहीं निवास करने लगे तथा इनके तीनों ही नाटक पद्मावती में ही लिखे गये। यह भी उल्लेखनीय है कि भवभूति ने महावीरचरित एवं मालतीमाधव की प्रस्तावनाओं में स्वयं को नटों का मित्र बतलाया है।[1] पद्मावती के ध्वंसावशेषों में विभिन्न वाद्यों को बजाते हुए सहचरियों के मध्य अलंकृत नर्तकी जिस पर उत्कीर्ण है ऐसा प्रस्तर खण्ड प्राप्त हुआ है जो इस स्थान पर नृत्य-नाट्य कला के प्रति जनरुचि को प्रकट करता है। पद्मपुर की स्थिति तथा सही पहिचान में कितने ही मतभेद रहें किन्तु पद्मावती की पहचान निर्विवाद रूप से सिद्ध है तथा यह भी प्रायः विद्वान् स्वीकार कर चुके हैं कि भवभूति उचित आश्रय की तलाश में अथवा शिक्षा के उद्देश्य से अथवा आलोचना से खिन्न होकर अपना मूल स्थान त्याग कर अन्यत्र चले गये थे। वह अन्य स्थान पद्मावती के सिवाय दूसरा नहीं था।

———

1. भवभूति के नाटक—डॉ० बृजवल्लभ शर्मा, पृ० 10

भवभूति की नाट्यकला और पद्मावती

हरिहर द्विवेदी

भारतीय प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में साधारणतः कहा जाता है कि वे अपनी कृतियों में इतने निमग्न रहते थे कि स्वयं के जीवन और जन्मभूमि के सम्बन्ध में जानकारी नहीं देते थे। यह उक्ति भवभूति के लिए भी चरितार्थ होती है। उनके जीवन आदि का निर्धारण करने के हेतु जो सामग्री उपलब्ध होती है वह न्यून ही है। उनके नाटकों की प्रस्तावना से हम इतना ही जानते हैं कि वे पद्मपुर के औदुम्बर ब्राह्मण थे, उनके पिता का नाम नीलकण्ठ और माता का नाम जतूकर्णी था और वे बाजपेय यज्ञ करने वाले भट्ट गोपाल के पौत्र थे। वे व्याकरण, न्याय, साहित्य और मीमांसा में प्रवीण थे।

किन्तु विद्वानों के अनेकविध गवेषणाओं के बाद भी, उनका जन्मस्थल पद्मपुर अभी तक निश्चित नहीं जाना जा सका है, सम्भवतः यह स्थल विदर्भ में हो। इसी प्रकार इनका समय भी अनिश्चित ही है। कालप्रियनाथ और पद्मावती के उनके नाटकों में आये उल्लेख के बल पर कहा जाता है कि वे मूलतः विदर्भ के निवासी थे, और अनंतर काल में उज्जैन की यात्रा करते हुए पद्मावती में आ बसे थे। पद्मावती का समीकरण आगे किया जायगा। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में इन्हें कन्नौज के यशोवर्मन् की विद्वत्सभा का सभासद् माना है जिनका पराभव कश्मीर के मुक्तापीड ललितादित्य ने किया था। उसका समय ईस्वी सन् 736 ज्ञात है। वाक्पति के गौड-वहो में, जिसमें यशोवर्मन् द्वारा गौड़ (पश्चिम बंगाल) के नरेश के पराभव का उल्लेख है, भवभूति का नाम आया है। इन प्रमाणों के आधार पर भवभूति का समय 700 ई० के लगभग माना गया है। इससे अधिक निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

भवभूति के तीनों नाटकों में समयमान से सम्भवतः 'महावीर चरित' प्रथम, 'मालतीमाधव' द्वितीय (जो एक प्रकरण है), और रामकथा पर आधारित 'उत्तर-रामचरित' अन्तिम कृति है। 'मालतीमाधव' की कथा वस्तु इनके स्वयं के मस्तिष्क की सूझ है। यह कथावस्तु पद्मावती से सम्बद्ध है, जो आजकल का पवाया या पदम-पवाया है—डबरा स्टेशन से लगभग 12 मील नैऋत्य दिशा में है।

भवभूति की रचनाओं में प्रथमतः इनकी अनुकरण-प्रियता की ओर संकेत करना हम आवश्यक समझते हैं। कालिदास की शैली में ही इन्होंने व्यथित माधव का सन्देश मेघ के द्वारा अपनी प्रियतमा मालती के पास पहुँचाने का प्रयत्न किया है—

दैवात् पश्येर्जगति विचरन् इच्छया मत्प्रियां चेत्
आश्वात्यादौ तदनु कथये र्माधवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्नच कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः॥

इस श्लोक में प्रत्येक शब्द में सार्थकता का समावेश है। मालतीमाधव में विरहातुर माधव द्वारा मालती की खोज का जो प्रयत्न किया गया है, उसमें विक्रमोर्वशी की छाया का आभास होता है। दण्डी की भाँति, यद्यपि इन दोनों कवियों में परावर का प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, इन्होंने राजनीति या कार्यसाफल्य के हेतु कामन्दकी और उसकी शिष्या अवलोकिता की सहायता ली है और यह भी स्पष्ट ही है कि शूद्रक और इनमें अनेक प्रमाण और पात्र उपस्थित करने में समानता ही है, यद्यपि शूद्रक का समय भी निश्चित नहीं है। उच्छृङ्खल हाथी के बदले ये स्वैर बिहारी सिंह को भी लाये हैं। फिर भी, इन सभी सन्दर्भों में इन्होंने नवीनता का समावेश किया है, जो काव्य में अभीष्ट है। अनुकरण करने पर भी नवीनता की दृष्टि से ये पूर्ववर्तियों से आगे भी बढ़ गए हैं। देखिए—

म्लानस्य जीव-कुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रिय मोहनानि।
आनन्दनानि हृदये करसायनानि
दिष्ट्या मयाप्यधिगतानि वचोऽमृतानि॥ (मालतीमाधव, अंक ६)

यह तब कहा गया है जबकि मालती को ज्ञात नहीं कि यह सब माधव सुन रहा है। प्रत्येक उक्ति में बात नहीं कही है किन्तु उक्तिवैचित्र्य लुभावना है। इसी प्रकार कामन्दकी की उक्ति—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा, सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥

जितने मार्मिक ढंग से यह बात कही गई है, वह तो सहृदयसंवेद्य ही है।

अथवा,

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः,
असावस्या स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दन रसः ॥

इसी प्रकार,

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्,
भिन्नान् पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ॥

आदि आदि अनेक उदाहरण इनकी प्रतिभा के दिए जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में आती है। इतनी नवीनता का समावेश होन पर भी, भवभूति का प्रभाव सहृदयों पर क्यों न हो पाया इसके अनेक कारण हैं। उनके स्वभाव में, और तदनुसार उनके गहन पाण्डित्य में, जनसामान्य को प्रभावित करने की शैली का समावेश न हो सका। वे भली-भाँति जानते थे कि जिस प्रसंग को वे पूर्णतया निर्वाह करने में सफल न हो सकेंगे, उसे छोड़ ही दिया जाय, या उसका किसी न किसी प्रकार निर्वाह किया जाय। नाटक में प्रस्तावना दर्शकों को स्वानुकूल बनाने का सिद्धहस्त प्रयोग है। किन्तु मालतीमाधव में सूत्रधार कहता है—अहं कामन्दकी संवृत्तः और साथ ही पारिवार्श्वक की उक्ति—अहमप्यवलोकिता। प्रस्तावना का यह ढंग रोचक नहीं है, इसमें रिक्तता आ जाती है। इधर मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार और पारिपार्श्वक के वार्तालाप का ढंग अत्यन्त रोचक है, जब सूत्रधार, पारिपार्श्वक के पूछने पर कहता है :—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
नचापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते
मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अथवा—रत्नावली में

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी।
लोके हारि च वत्सराजचरितं, नाट्ये च दक्षा वयम् ॥ आदि आदि।

कवि, कथावस्तु, दर्शक और नर्तक—सबके विषय में अच्छे उद्गार के साथ प्रस्तुत किया हुआ नाटक मनोरंजक होगा ही। रस को परिवर्द्धित करने के लिए आलम्बन के साथ उद्दीपन होना भी आवश्यक है ही।

इसी प्रकार मंगलाचरण में भी हम भेद पाते हैं :—

कहाँ तो कालिदास के मंगलाचरण के श्लोक ;–(1) या सृष्टिः स्रष्टुराद्या…

(शाकु०) (2) एकेश्वर्ये स्थितोऽपि············। और कहाँ······वैनायक्याश्चिरं वो वदन विधुतयः पान्तु चीत्कारवत्यः।' (मालतीमाधव, अंक 1, श्लोक 2)

कालिदास का मालविकाग्निमित्र पूरा-पूरा विदूषक पर अवलम्बित है। अग्निमित्र को मालविका का प्रथम दर्शन कराना, वह भी गाती हुई, बार-बार उन्हें मिलाना, इरावती की विचित्र चाल को सम्हालना, उसके द्वारा कारागार में डाली गई मालविका को वहाँ से छुड़ाने के लिए प्रयत्न करना, आदि-आदि में विदूषक का प्रमुख हाथ है। विदूषक को पृथक् कर दिया जाय, तो यह नाटक आगे नहीं बढ़ सकता। उसी के कारण नाटक प्रवहमान होता रहता है। इधर शाकुन्तल में विदूषक दुष्यन्त की हर समय सहायता करता रहता है और साथ-साथ विनोद भी।

दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि भवभूति ने विदूषक को अपने नाटकों में दूर ही कर दिया है। विनोद न्यूनतम है, जहाँ है वहाँ केवल कृत्रिम।

इस प्रकार भवभूति में गम्भीर नाटक यद्यपि उच्च कल्पनाओं से ओत-प्रोत हैं, जनसामान्य का आकर्षण करने में कालिदास के नाटकों के समान सफल नहीं हो सके—यह स्वाभाविक ही है।

भवभूति ने अपने नाटकों में कथावस्तु के सरलता से प्रवाह की अपेक्षा विद्वत्ता का प्रदर्शन करने पर अधिक जोर दिया है। दण्डक सरीखे छन्द, लम्बे सामासिक शब्द और नाटक के अनुरूप कल्पना भी उनके नाटकों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती ही है। जैसे—

(1) एतस्मिन् मदकलमल्लिकाख्यपक्ष व्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
वाष्पाम्भः परिपतनोद्गमान्तराले संदृष्टाः कुवलयिनो भुवोतिका॥

(2) दधति कुहरभाजामत्र भल्लूक यूना।
मनुरसित गुरूणिस्त्यानमम्बूकृतानि॥ आदि आदि।

पद्मावती का समीकरण

पद्मावती का स्थल निश्चित करने के लिए विगत शताब्दी में अनेक प्रयत्न हुए हैं। सर्वप्रथम विल्सन ने प्रथम तो इसे उज्जैन बताया, फिर बरार का पद्मपुर (जो भवभूति का जन्मस्थल था), और साथ ही भागलपुर भी क्रमशः वे मानने लगे। तदनन्तर, कनिंघम ने शिवपुरी जिले के नकवर नामक प्राचीन स्थल को पद्मावती बतलाया। किन्तु अन्त में इस स्थल पर उत्खनन और छानबीन करने के पश्चात् यही सिद्ध किया कि वर्तमान पदमपवाया जो डबरा स्टेशन से पश्चिम में है, पद्मावती का स्थल है।

भवभूति के मालतीमाधव में ये उदाहरण पाए जाते हैं :—

मकरन्द : तदुत्तिष्ठ, पारासिन्धुसंगममवगाह्य नगरीं प्रविशावः

सौदामिनी—**पद्मावती** विमलवारि विशाल सिन्धु—
पारा सरित्परिकरच्छलतो बिभर्त्ति ।
उतुङ्ग सौधसुरमन्दिरगोपराट्ट—
संघट्ट पाटित विमुक्तमिवान्तरिक्षम् ॥

अपि च,

सैषा विभाति **लवणा**सलिलोर्मिपंक्तिः
अयमसौ भगवत्याः **सिन्धोर्दारित**रसातलस्तटप्रपातः ।
अयं च **मधुमती सिन्धुसम्भेद** पावनो भगवान् भवानीपति—
रपौरुषेय प्रतिष्ठाः **सुवर्णबिन्दु**रित्याख्यायते ।

इससे सिद्ध है कि प्राचीन पद्मावती पारा (पार्वती) और सिन्धु के संगम पर बसी थी और उससे थोड़ी दूरी पर मधुमती और लवणा नाम की नदियाँ वहाँ थीं मधुमती आधुनिक महुवार है और लवणा आजकल की नौन या लौन ।

इस स्थल पर किए उत्खनन में मणिभद्र, यक्ष, ताड़पत्र के बल पर पद्मावती का यही स्थल निश्चित होता है । इस स्थल के आग्नेय में एक प्राचीन शिवलिंग है जो सम्भवतः सुवर्ण बिन्दु हो । ये उत्खनन की यह सब सामग्री गूजरीमहल (ग्वालियर संग्रहालय) में सुरक्षित है ।

इस समीकरण की पुष्टि यहाँ उपलब्ध हुई ताम्रमुद्राओं से होती है । जो यहाँ राज्य करने वाला **भारशिव** या **नागवंश** था, वह **गणराज्य** था और इसी गणराज्य ने विदेशी कुषाणवंश के कनिष्क तृतीय के उत्तराधिकारी वासुदेव द्वितीय (210-230 ई०) अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में पराभव करके कुषाणों और उनके अधीन एवं पश्चिमी क्षत्रपों को भारत छोड़ने के लिए मजबूर करके यहाँ गण-राज्य की पुनः स्थापना की ।

नागवंश का केवल उल्लेख पुराणों में मिलता है । विष्णु पुराण में लिखा है—

नवनागाः मथुरायां, कान्तिपुर्यां, पद्मावत्याम् ।

इसी प्रकार वायुपुराण में आया है—

नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं पद्मावतीं नृप ।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै ॥

पुराणों में भी केवल इतना ही उल्लेख है, इनके नाम बाद में यहाँ मिले सिक्कों के आधार पर ही जाने गए हैं । ग्वालियर संग्रहालय में चिरकाल तक एकत्र

की हुई लगभग तीन लाख मुद्राओं का निजी अध्ययन कर मैंने ये नाम जाने हैं—भव, भीम, स्कन्द, वसु, वृहस्पति, विभु, रवि, प्रभाकर, दैव और गणपति । इसके पहले केवल भवनाग का नाम ज्ञात था 'भवनागदौहित्राय' (वाकाटक वंश) । ये नागवंशी नरेश इस क्षेत्र में स्वतन्त्रता स्थापन करने वालों में सर्वप्रथम थे, इस सम्बन्ध में स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल ने बहुत लिखा है, यद्यपि उनके लेखों का खण्डन-मंडन भी हो चुका है । इस विषय में अपने लेखों द्वारा मैंने उन्हीं के मत की पुष्टि की है ।

यह एक पृथक् ही विषय है यद्यपि पद्मावती के समीकरण में इससे सहायता उपलब्ध होती है । ऊपर आया हुआ कान्तिपुरी नाम मुरैना जिले में कुत्वार नामक स्थान का द्योतक है; पवाया की भाँति सिन्धु नदी के तट पर बसा है ।

———

भवभूति का परिवेश : दो टिप्पणियाँ

डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित

एक : राष्ट्ररक्षा :

ऐतरेय ब्राह्मण (8/25) में कहा गया है—

क्षत्रेण क्षत्रं जयति बलेन बलमश्नुते ।
यस्यैवं ब्राह्मणो विद्वान् राष्ट्रगोपः पुरोहितः ॥

इस श्लोक के स्वर में स्वर मिलाकर भवभूति राष्ट्र की रक्षा का भार बुद्धिजीवियों पर मानता है । तदनुसार राष्ट्र के रक्षक बुद्धिजीवी जिस देश में हों वह राष्ट्र न कभी जीर्ण होता है, न नष्ट होता है और न कभी उसे कोई परेशानी ही होती है ।

न तस्य राष्ट्रं व्यथते न भ्रश्यति न जीर्यति ।
त्वं विद्वान् ब्राह्मणो यस्य राष्ट्रगोपः पुरोहितः ॥

महावीरचरित, 3/18

दो : कालप्रियनाथ :

'मारिष सुविहितानि रङ्गमङ्गलानि सन्निपतितश्च भगवतः कालप्रियनाथस्य यात्राप्रसङ्गेन नानादिगन्तवास्तव्यो महाजनसमाजः । आदिष्टश्चास्मि विद्वज्जनपरिषदा यथा केनचिदपूर्वप्रकरणेन वयं विनोदयितव्या इति ।'

मालती माधव 1/3 के बाद तथा ऐसे ही वाक्य अन्य नाटकों में हैं । अब तक जितने भी सन्दर्भ प्राप्त हुए उनमें कालप्रिय का उल्लेख है और उन आधारों पर डॉ० मिराशी प्रभृति विद्वानों ने इसे कालपी नामक स्थान माना है ।

राजा भोज ने अपनी शृंङ्गारमञ्जरी कथा में वत्स देश की राजधानी

कौशाम्बी में कालप्रियदेव की स्पष्ट स्थिति बतायी है। "अस्ति वत्सेषु कौशाम्बी नाम नगरी—पुरूपसम्पदा विजितमकरकेतुः सुभगः कलाकलापकुशलः समानशीलवयोभिराप्तैरनुगम्यमानो भगवतः कालप्रियदेवस्य मधुसमकष्ठीयात्रायामात्रकमनीयवेषस्तमेव भगवन्तं प्रेक्षितुमयासीत्।" पृष्ठ 76।

भवभूति के नाटकों के समान यहाँ भी बताया गया है कि कालप्रियदेव की यात्रा होती थी जिसे लोग देखने जाते थे। यह उनकी छड़ी या निशान की यात्रा वसन्त ऋतु में होती थी। भोज का यह विवरण भवभूति की ही परम्परा में यदि हो तो भवभूति के नाटक कौशाम्बी में वसंत में होने वाली कालप्रियदेव की यष्टियात्रा के अवसर पर खेले गये थे। वैसे भवभूति के आश्रयदाता यशोवर्मा की राजधानी कन्नौज से कौशाम्बी की दूरी बहुत अधिक नहीं है। तब कौशाम्बी यशोवर्मा के राज्य में ही थी। वैसे पवाया से भी एक सूर्य-स्तम्भशीर्ष प्राप्त हुआ है जिसमें मानवाकार सूर्य दो परस्पर विरोधी दिशा में प्रदर्शित हैं और दोनों के पीछे प्रभामण्डल है। ऐसे स्तम्भ यष्टि कहलाते हैं और इनके सम्मान में यात्रा आयोजित होती थी। असंभव नहीं, भवभूति के कालप्रियनाथ पद्मावती (पवाया) के ही हों जिनकी यष्टि का शीर्ष भाग आज भी सुलभ है। और उन्हीं के सम्मान में आयोजित हुई यात्रा में उनके नाटक प्रदर्शित होते रहे हों।

———

दृष्टव्य, पद्मावती, पृष्ठ 55-56 तथा 94 पर चित्र।

खण्ड : दो

भवभूति का नाट्य-विश्व

भवभूति : स्मृति, सत्ता और भविष्यत्*

प्रो० श्रीनिवास रथ

मैं सर्वप्रथम ग्वालियर की उस धरती को प्रणाम करता हूँ जहाँ मुझे शिक्षा पाने का सौभाग्य मिला था। मैं उन वयोवृद्ध मनीषी विद्वत् जनों को प्रणाम करता हूँ, जो यहाँ उपस्थित हैं। उनमें आज भी वह उत्साह है, जो कभी-कभी हमको अपने आज के नवयुवकों में देखने को नहीं मिलता। हमारे तरुण विद्वान भी यहाँ हैं। इन सब के अलग-अलग क्षेत्र हैं, विषय के और विवेचन के।

जहाँ तक मेरा प्रसंग आता है, हम तो कुछ भावुक व्यक्तियों में से हैं और भावुक व्यक्ति वो होता है जो बिना बात के रोता है और बिना बात के गाता है। हम उन्हीं में से हैं। बात यह है कि भवभूति ने कभी एक श्लोक लिखा था—मालती माधव में—

येनाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तिते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी॥

साहित्य में दंश की, टीस की बात हम उठाते हैं। कुछ दिनों पहले कक्षा में एक वाक्य पढ़ा रहा था। बरसों तक उसे पढ़ाता आ रहा हूँ। हमारे गुरुओं ने हमको बताया था कि 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे' यह काव्य नहीं है और उसी आधार पर पढ़ा रहा था। बात आयी सामने कि काव्य क्या है और अकाव्य क्या है? तो हमारे गुरुओं ने

*भवभूति-संगोष्ठी में उद्घाटन के अवसर पर प्रदत्त व्याख्यान।

हमको बताया था, 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे''—सूखा पेड़ खड़ा है आगे—यह काव्य नहीं है। तो फिर काव्य क्या है? 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' नीरस तरु हमारे सामने सुशोभित है, यह काव्य है। मुझे आज बड़ा संकोच होता है। बीस बरस मैंने यह पढ़ाया, बीस बरस मैं यह पढ़ाता रहा कि देखो 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे' काव्य नहीं है और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' यह काव्य है। भगवती सरस्वती का या भवभूति का आशीर्वचन इस वर्ष मिला, अचानक मुझे लगा कि 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' यह काव्य नहीं है। 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे' यह काव्य है। काव्य के धरातल इस तरह बदलते हैं। सूखा पेड़, एक पेड़ जिसको सरसब्ज होना चाहिए, एक पेड़ जिसमें पत्तियाँ होनी चाहिए, एक पेड़ जिसके नीचे छाया होनी चाहिए वह सब बिखर गया, सब टूट गया और जब वह केवल एक ठूँठ रह गया, जब सूख गया तो उसका अस्तित्व आज हमको दूसरे प्रकार से—दूसरे सिरे से—प्रभावित करता है—'शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे' मुझे लगा कि यह काव्य है। हमारी संवेदना बदल गई है। ऐसी बदली हुई संवेदना को भवभूति रेखांकित करते हैं। उन्होंने जो कहा, न जाने किस दर्द में आकर कहा होगा।

कल रात हम रास्ते में भी इस श्लोक पर बात करते आये कि 'येनाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां, जानन्तिते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः' जिन लोगों के पास कोई और धंधा नहीं है, सिवाय इसके कि हमारे बारे में कुछ उल्टी सीधी बात करते रहें, हमको गाली देते रहें—'येनाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां, जानन्तिते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः'—वे जरूर कुछ न कुछ जानते होंगे। जरूर विद्वान् होंगे। 'तान्प्रति नैष यत्नः' यह मेरा सारा यत्न उनके लिए तो नहीं है। 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा' मेरे समान दृष्टि रखने वाला मेरे समान संवेदना रखने वाला कोई कभी पैदा होगा या शायद आज भी कहीं हो। कालो निरवधिः'—काल अनन्त है, निरवधि है। न जाने कब ऐसा कोई व्यक्ति पैदा हो। आज जमाना नहीं समझ रहा है 'ये बहरे जहाँ ने मुझको बेज़ुबान कर दिया'—यह संसार जो है, वह बहरा है, वो मेरी वाणी जो है, उसे मूक बनाये दे रहा है। पृथ्वी भी तो इतनी विशाल है, कि हम एक कोने पर बैठे क्या सबको पहचान पायेंगे। क्या हम सभी से सम्पर्क स्थापित कर पायेंगे कि कौन हमारी संवेदना का हमजोली है। तो इस आत्म-विश्वास को रेखांकित करने वाला कवि क्यों टूट गया था। आखिर उसके सामने ऐसी कौन-सी बात आयी थी।

उत्तररामचरित प्रारम्भ होता है। कहते हैं कि राम का राज्याभिषेक हुआ है और चौराहे-चौराहे पर उत्सव मन रहा है। गीत है, वाद्य है, नाट्य है, चौराहों पर भीड़ है। अचानक एक कोई व्यक्ति बाहर से आया है और देखता है कि यहाँ तो उत्सव मन रहा था, यह उत्सव क्यों बन्द हो गया? यह चारों तरफ सन्नाटा क्यों

छाया हुआ है? तो दूसरा आदमी बताता है कि भाई उत्सव तो कोई अनन्तकाल तक नहीं चलते। हाँ, राम का राज्याभिषेक हुआ था, जगह-जगह उत्सव मनाये गये थे और त्रिभुवन से अतिथि आये हुए थे—यक्ष, राक्षस, किन्नर, देव सभी प्रकार के अतिथि आये हुए थे, वे अतिथि धीरे-धीरे अपने घर रवाना हो चुके हैं, उन्हीं के लिए यह सब उत्सव चारों तरफ मन रहा था। तो उसको धक्का सा लगा कि मैं तो कुछ लेट हो गया। वो तो बेचारा कुछ खुशी का समय है, यह जानकर कुछ माँगने के लिए आया था कि कुछ अपनी बात सुनाऊँगा तो कोई हमारी झोली भर देगा। तो उसने पूछा कि हाँ तो फिर आप ऐसा करिए कि कुछ अच्छी सी पंक्ति बनाइये कोई अच्छी सी कविता लिखिए और पहुँच जाइये राजमहल। सुपरिशुद्धा कोई पंक्ति आप लिख लीजिए। राजा को या राम को प्रसन्न कर सके ऐसा कुछ लिखिए। इस पर वह कहता है–'सर्वथा व्यवहर्तव्ये कुतो ह्यवचनीयता। अब इस जिन्दगी में समाज में जीना है, रोज कुछ न कुछ व्यवहार करना है तो ऐसा कैसे हो सकता है कि आपकी बुराई कोई न करे। जब जीवन में जीना है, जब काम करना है तो कोई न कोई आडिट आब्जेक्शन तो आयेगा। कहीं न कहीं से तो आयेगा।' सर्वथा व्यवहर्तव्ये कुतोहि अवचनीयता।' अवचनीय होकर रह जायें यह कैसे हो सकता है। 'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनोजन:' यथा स्त्रीणां—जैसे नारी के सम्बन्ध में उसी तरह वाणी के सम्बन्ध में 'साधुत्वे दुर्जनोजन:' लोग इनकी साधुता को व्यक्त करने के मामले में प्राय: दुर्जन होते हैं। तौल दिया तराजू पर माँ सरस्वती को और नारी को यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनोजन:। किसी भी नारी के बारे में बिना विचारे, बिना सोचे समझे, बिना जानते हुए कि मैं क्या कह रहा हूँ लोग क्या-क्या नहीं कह जाते। अपने इसी अंचल की ग्रामीण कहावत है—'गरीब की लुगाई सब गाँव की भौजाई' कौन क्या नहीं कह देता है। 'यथा स्त्रीणां तथा वाचां'—अब उसने उसके साथ जो वाणी को लाकर जोड़ा कि वाणी की शुद्धता के बारे में अपनी राय व्यक्त करने में प्राय: लोग दुर्जन होते हैं, सबसे पहला आघात नाटक के खुलते ही यहीं पर होता है। इतने पर भवभूति रुकते नहीं। 'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनोजन:' के आगे वाक्य है—'अति दुर्जनइति वक्तव्य:'। एक साथ उसके बाद दूसरा वाक्य आता है दुर्जन कहने मात्र से काम नहीं चलेगा, लोग दुर्जन ही नहीं अति दुर्जन होते हैं। क्यों? हाँ कुछ बात है। वह बात है कि 'देव्यामपि हि वैदेह्यां सापवादो यतो जन:' लोगों का मुँह कहाँ बाँधियेगा? किसी सामान्य नारी के बारे में कुछ कह देने में तो उनको क्या लगता, पर 'देव्यामपि हि वैदेह्यां'—वैदेही माता, वैदेही देवी, जो कि चौदह वर्ष अपने पति के साथ छाया बनकर जङ्गल-जङ्गल घूमकर और सारी परीक्षाएँ देकर जो आयी हैं 'देव्यामपि वैदेह्यां सापवादो यतो जन: 'लोग तो उन पर भी उँगली उठाते हैं। 'रक्षो-गृहस्थितिर्मूलम् अग्निशुद्धौ त्वनिश्चय:' उस बदनामी का

मूल है किसी राक्षस के घर में निवास करना। 'अग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः' अग्नि ने शुद्ध कर लिया और अग्नि ने परीक्षा कर उसको प्रमाण-पत्र दे दिया तो, कहते हैं कि यह प्रमाण-पत्र जाली है। लोग उस पर विश्वास नहीं करते। नाटककार या कवि जब कहता है तब इस पूरे आघात के साथ नहीं, पर धीरे से उसके वाक्य आते हैं 'यदि पुनरियं किंवदन्ती महाराजं प्रति स्यन्देत।'

भवभूति जिस करुणा-लहरी की सृष्टि करता है वो कहीं एक शब्द में इसी तरह स्यंदित हो उठती है। स्यन्द का अर्थ होता है बहना, इसलिए रथ स्यंदन कहलाता है। जिस पर बैठकर चलने में दचके न लगें, वह स्यंदन होता है, जैसे पानी बह जाता है, पानी के बहाव की तरह धीरे-धीरे जो बह जाय। ये लोगों की बात कहीं अगर पानी की तरह रिसते-रिसते, बहते-बहते महाराज के कान तक पहुँच गई तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। हाँ सर्वथा देवता ऋषि वही कुछ कल्याण करें तो करें, यहाँ से नाटक की भूमिका जो है वह प्रारम्भ होती है और उसके बाद पता किया जाता है कि कहाँ हैं राम।

आज ही जनक अपने घर के लिए रवाना हो गये, सीता कुछ अनमनी हैं, और उसको कुछ दिलासा देने के लिए, उसका मन बहलाने के लिए, उसको कुछ ढाँढस बँधाने के लिये धर्मासन से उठकर राम अंतःपुर की ओर चले गये। यह दृश्य है। इस दृश्य के साथ नाटक आपके सामने आता है। वह देखते हैं कि हाँ राम वहाँ हैं, और उधर से लक्ष्मण एक चित्रवीथी लेकर आता है कि जब सीता नहीं थी उस समय के जो वृत्त थे उन सब कहानियों के जो वृत्त थे, उन सब कहानियों को और पूरे राम के चरित्र को एक चित्रवीथी में, जिसको हम एलबम कह देते हैं, उसको लेकर लक्ष्मण आता है, लक्ष्मण से राम पूछते हैं—'जानासि वत्स दुर्मनायमानायाः देव्याः' तुम्हें मालूम है यह तस्वीर यह चित्र हमने क्यों बनवाये हैं ? क्यों बनवाये हैं ? क्योंकि सीता उदास है, सीता का थोड़ा मन बहल जाये, इसलिए यह चित्र बनवाये।

मन बहलाने की बात भवभूति ने कालिदास से सीखी थी। रघुवंश में कालिदास लिखते हैं कि राम जब लौट आये तो उन्होंने पुराने समय के दिनों के चित्र बनवाये और एक भवन में वह सारे चित्र लगवाये। उन चित्रों को और उन चित्रावलियों को देखकर वे सारे दुख जो दण्डक में भोगे थे 'संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्' दण्डक के समय में जो दुःख भोगे थे, उनको उन चित्रों में देखकर अब संवेदनाएँ बदल गईं, महाकवि कालिदास को हम कविकुलगुरु कहते हैं। मेरे इस उदाहरण के कारण कविकुल-गुरु के गुरुत्व में आप यह न समझें कि कोई एक आधी मात्रा का भी गौरव कम हो जायगा, परन्तु दो मस्तिष्क हैं, दो मन हैं, दो शृंग हैं, दोनों शृंगों पर दृश्य कैसे बदल जाते हैं वो कहते हैं। 'संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्' जब उनको फिर से याद किया तो वह सारे दुःख के दिन सुख में पलट गये, परन्तु भवभूति इससे सहमत नहीं

हैं, वो ठीक इसका उल्टा देखते हैं। उस श्लोक तक पहुँचकर मैं अपनी बात खतम कर दूँगा, पर उस श्लोक की भूमिका मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। पूँछते हैं, 'जानासि वत्स' बेटे, मालूम है यह चित्र क्यों बनवाया ? सीता आज उदास है उनका मन बहलाने के लिए 'तत् कियानवधिः' यह चित्र, कहाँ तक के चित्र हैं। उद्देश्य राम का यह है कि सीता अब दुःखी है और सीता का मन किसी तरह से बहल जाये। लक्ष्मण से पूछते हैं कि यह चित्र कहाँ तक हैं ? लक्ष्मण का जवाब आता है—'यावदार्याया हुताशनपरिशुद्धिः'—बस यह चित्र वहीं तक हैं जहाँ सीता की अग्नि शुद्धि हुई।

अब आप देखिए विधि की विडम्बना कि चाह रहे थे सीता का मन बहलाना, चाह रहे थे सीता उस दुःख से कुछ मुक्त हो और एक दूसरे दुःख का प्रहार, जो है वह उन पर गिरता है। राम उसी वक्त अगले वाक्य में कहते हैं 'क्षमस्व देवि'—देवी क्षमा करना यह बदनामी, यह कलंक जिन्दगी भर कभी मिट नहीं पायेगा। जब तक सूर्य चन्द्र हैं, तब तक यह अपवाद तो बना ही रहेगा कि सीता की कभी अग्नि द्वारा शुद्धि हुई थी। तब वो कहते हैं—

उत्पत्ति-परिपूतायाः किमन्यैः पावनान्तरैः
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धि मर्हतः।

अरे ! जो जन्म से पवित्र है, जो धरती की गोद से पैदा हुई है, जिसका जन्म उस सांसारिक विधि से नहीं हुआ है, जिससे कि बाकी सब लोग जनमते हैं 'उत्पत्ति परिपूतायाः किमन्यैः पावनान्तरैः' जो उत्पत्ति से पवित्र है, उसको और पवित्र कौन कर देगा। 'तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः' तीर्थ का जल और अग्नि, अग्नि को कौन शुद्ध करेगा। जब किसी बर्तन को कोई ऐसा पशु छू जाता है तो हम देखते हैं, हमारी माताजी उसे अग्नि में जलाकर साफ कर लेती थीं। जब और कहीं से कुछ हो जाता है तो गंगाजल छिड़क देती थीं। पर तीर्थ जल और अग्नि इनको कौन पवित्र करेगा। तो कहाँ तीर्थोदक है, कहाँ अग्नि है और कहाँ सीता है।

इसी पैमाने पर, वे फिर आगे बढ़ते हैं। इस बीच अष्टावक्र आ गये हैं, कुछ संदेश लाये हैं। राम, सीता और लक्ष्मण ये तीनों ही यहाँ पर हैं। माताएँ गई हुई हैं ननद के यहाँ। वहाँ पर कोई यज्ञ है बारह वर्ष का। यहाँ पर भवभूति ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है—बोलने का समय कम है इनको इतना विस्तार नहीं दे सकते कहानी को, उस समय वहाँ कोई नहीं है। वशिष्ठ नहीं है, कौशल्या नहीं है, अरुन्धती वहाँ नहीं है. वहाँ से संदेश लेकर एक आया है। सीता नारी सुलभ उत्कण्ठा से पूछ उठती है, 'अपि अस्मान् स्मरति' हमको याद करते हैं। और क्या कहा उन्होंने ? तो सीता के लिए जो संदेश भेजते हैं महर्षि वशिष्ठ, वह कहते हैं—

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत, राजाप्रजापति-समो जनकः पिता ते ।
तेषांवधूस्त्वमसि नंदिनि पार्थिवानाम्, येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ।।

विश्वंभरा भगवती धरती ने तुमको जन्म दिया, प्रजापति के समान ज्ञान के निधान जनक तुम्हारे पिता और उसके परिवार में ब्याह कर आयीं, जिसके गुरु या तो सूर्य है या हम हैं । 'येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च-किमन्यदाशास्महे ?' तुम्हारे लिए और कौन से आशीर्वाद की आशा करें ? 'केवलं वीरप्रसवाभूयाः'—हमारा यही आशीर्वाद है कि तुम्हारी संतान वीर हो, वीर पुत्र की माता बनो । सुनते हैं राम भी कुछ थोड़े लजा जाते हैं । वह कह उठते हैं—

लौकिकानां हि साधूनां अर्थम् वागनुवर्तते
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचम् अर्थोऽनुधावति ।

जो लौकिक साधु हैं, जो लौकिक व्यक्ति हैं, जो सामान्य लोक से कुछ ऊँचाई तक पहुँच गये हैं, उनके पास इतना ही सत्य है कि जो होने वाला है उसको वह पहले बता देते हैं । ऋषीणां पुनराद्यानां जो आद्य ऋषि हैं, जिनको आप सप्त-ऋषि के नाम से नक्षत्र में आकाश में पहचानते हैं, उनकी वाणी, उनके मुँह से जो निकल जाये उसको होना पड़ता है । 'ऋषीणापुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति', ढाँढस मिलता है । ऐसी स्थितियों में जब वो एक के बाद एक चित्र देखने लगते हैं, यहाँ पर एक दृश्य है प्रस्तुत करना चाहूँगा कि यह दृश्यावली चलती है, यह दृश्य देखते-देखते वो स्थिति आ जाती है—जिसमें सीता का निष्कासन हो जाता है । पहला अंक यहाँ समाप्त होता है । और भवभूति की करुणा रेखा तब तक आपको पूरी तरह अभिभूत कर देती है । आप बेहोश हो चुके हैं । देखते हैं राम एक-एक चित्र ।

पंपा सरोवर है । पंपा सरोवर का नाम सभी रामायण से परिचित लोग जानते हैं । वहाँ पर खिले हुए हैं कमल । कमल खिले हुए हैं, भरे हुए हैं तालाब में, और राम ने वह दृश्य देखा तो हम क्या कहेंगे वहाँ पर एक तालाब है और उस तालाब में हजारों कमल होते हैं और हमने उसको देखा । सीता को बताया कि हमने उसको कैसे देखा । सीता तो वहाँ नहीं है, सीता ने पंपा सरोवर भी नहीं देखा तो यह कहती है वाणी भवभूति की—

एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्ष-व्याधूतस्फरदुरु-दण्ड-पुण्डरीकाः ।
बाष्पाम्भः-परिपतनोद्गमान्तराले संदृष्टा कुवलयिनो भुवो विभागाः ।।

इस सरोवर में मल्लिकाक्ष नाम के जो राजहंस हैं, उनके पंख फड़फड़ाने से वे सारे कमल जो नाल सहित हिल गये चारों तरफ । कुवलय से भरे प्रदेश को हमने देखा । पर कैसे ?—'बाष्पाम्भाःपरितनोद्गमान्तराले संदृष्टा कुवलयिनी भुवो

विभागाः' एक आँसू की बूंद के टपकने और आँख पर दूसरे आँसू के आ जाने के बीच की घड़ी में यह दृश्य हमने देखा। भवभूति कहाँ बोल उठते हैं—कि आँसू जब भरे हों आँखों में तब क्या दृश्य दिखाई दे, 'एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्ष-व्याधूतस्फरदुरु-दण्ड पुण्डरीकाः'। भाई कमलेशदत्त जी इसका दूसरा अर्थ करते हैं। यहाँ अर्थ तो अनंत हैं। किसकी प्रतिभा किसको कहाँ छू जाती है। पुण्डरीक जो सिताम्भोज होता है, श्वेत कमल है उस सरोवर में चारों ओर श्वेत कमल खिले हुए थे। पर जब एक आँसू की बूंद गिरी और दूसरी आँसू की बूंद टिक गई आँख की कोर पर इस बीच में उस सजल नयन की जाली से जब उसको देखा तो वे सारे के सारे पुंडरीक नीले-नीले कुवलय के समान दिखने लगे। उनका रंग ही बदल गया, कहाँ तो पुण्डरीक था और कहाँ कुवलयविपिन दिखने लगा। संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ ही जानते हैं कि पुण्डरीक श्वेत होगा और कुवलय नीला। तो आँखों के कोई वैज्ञानिक हों, स्पेक्ट्रोस्कॉपी के प्रोफसर, तो वो बतलायेंगे कि कैसे पानी की अगर जाली आ जाय तो कैसे यह दृश्य बदल जायगा।

दोनों कवियों की दृष्टि में जो अंतर है वह इन्हीं संवेदना की गहराइयों में सार्थक होता है। एक कवि ने कहा कि पुराने वृत्त बीते हुए दिन दुख भरे दिन अब जब बीत गये। सखि, अब वे वासर बीत गये। जो बीत गये दिन उनको जब फिर से याद किया, अब सुख की अवस्था में देखा तो अब वे सुख में बदल गये। यह कालिदास ने कहा था पर भवभूति कहते हैं कि नहीं—

अथेदंरक्षोभिः कनक-हरिणच्छद्म-विधिना
तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथाक्षालितमपि
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै—
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

इन राक्षसों के कुछ ऐसे ही कर्म थे जिनके कारण राक्षस शब्द बदनाम हो गया। 'अथेदं रक्षोभिः कनक-हरिणच्छद्मविधिना,' सोने के मृग के छद्म से उन पापियों ने ऐसा कुछ कर डाला यद्यपि हमने उसका पूरा बदला ले लिया, आज हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कहीं किसी राक्षस का नाम नहीं बचा है। सारे राक्षस उनकी गिनती भी है, कितने हजार कितने राक्षस उन्होंने मार डाले थे, पूरा बदला ले लिया, आज कहीं सोने की लंका नहीं है। उसको पूरा धो लिया फिर भी वह जब याद आता है तो साल देता है हृदय को, क्यों?···

एक बार मैं इलाहाबाद गया था, वहाँ एक नीम का पेड़ दिखाया गया, कहा कि इस पेड़ पर जो स्वतंत्रता सेनानी थे, उनको फाँसी पर लटकाया गया था। भरा बाजार है, चारों तरफ व्यापार चल रहा है, परन्तु क्षण भर के लिए अपने मन मस्तिष्क को रोक कर बैठ जायें, पेड़ की डाल की तरफ देखें या कभी जलियाँवाला बाग में जाकर

देखें, जहाँ पर वो निर्मम हत्याएँ हुई थीं, तो क्या उस स्थान को देखकर आज वह सुख में बदल जायेगा ? किसी निरपराध के ऊपर ऐसा आक्रमण हुआ हो क्या उसको याद करने पर वह सुख में बदल जायेगा ? "जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितैः" जनस्थान आज शून्य है आज जनस्थान में कोई खरदूषण का भय नहीं है। बच्चा भी वहाँ जा सकता है और आराम से लौटकर आ सकता है। परन्तु 'विकलकरणैरार्य-चरितैः' राम के जीवन में कौन-कौन से दुख के छन्द वहाँ गुजरे 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' उसकी याद आने पर पत्थर रोने लगता है और वज्र का कलेजा फट जाता है। दो-दो सिरे दो-दो अनुभूतियों के दो सिरे हैं, यहाँ पर दो कवि दो मार्ग आपको दिखलाते हैं, वही करुण रस बन जाता है। वहीं पर करुण का यथार्थ आ जाता है और आज उसने कभी कहा था—

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा

मेरे समान धर्म का कोई पैदा होगा तो कोई समान-धर्मा है या नहीं, यह नहीं कह सकता। परन्तु काल जो है वह जरूर भवभूति के पैरलल होकर आज खड़ा हो गया है। क्योंकि इसी वर्ष पहली बार मैंने पहचाना कि 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे' काव्य है, अकाव्य नहीं।

एको रसः करुण एव*

कमलेश दत्त त्रिपाठी

भाई श्रीनिवास रथ ने आज इस संगोष्ठी के उद्घाटन के अनुकूल आपको उस संसार में पहुँचाने की कोशिश की और पहुँचा भी दिया है, जो भवभूति का अपना संसार है, जो क्लासिकी साहित्य का एक ऐसा अजाना संसार है—आज अपरिचित हो रहा है, जैसे हमसे छूट रहा है,—उसका एक परिचय हमारे उन साथियों के लिए जरूर कुछ आकर्षक और उत्तेजक लगा होगा, जिन्हें भवभूति पहली बार सुनने को मिले। यह संसार विद्वानों के लिए सर्वथा परिचित है। विद्वान् आने वाले दो दिनों में उसके अलग-अलग पक्षों पर गहराई से विचार करेंगे, उसके भीतर प्रविष्ट होंगे। पर इस उद्घाटन भाषण के समय जो हमारे साथी यहाँ पर हैं, जिनके लिए संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य उतना निकट से परिचित नहीं है, उनको एक अंदाज जरूर भाई श्रीनिवास रथ के व्याख्यान से हो गया होगा। यूँ भी संस्कृत का क्लासिकी साहित्य अपने अनेक पक्षों लिए दुनिया में जाना गया, पर जिस बात ने सबसे पहले संसार को आकृष्ट किया, संस्कृत भाषा के साहित्य का वह पक्ष, नाटक का पक्ष है। हम सब जानते हैं कि पश्चिम के लिए हिन्दुस्तान बहुत पहले से एक आकर्षण का क्षेत्र रहा है, लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्त में जब कालिदास का अनुवाद हुआ और वह शाकुन्तल का अनुवाद हुआ, अभिज्ञानशाकुन्तल का अनुवाद हुआ और मोनियर विलियम्स का अनुवाद जब पश्चिम में पहुँचा, सुप्रसिद्ध जर्मन महाकवि गुइथे ने, जिसे गेटे हम कहते हैं, जब उसे पढ़ा और जब उसका वह आंतरिक उल्लास सामने आया—

---

* उद्घाटन-व्याख्यान।

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोक-भूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ।।

यह संस्कृत अनुवाद है उसके जर्मन उद्‌गार का। अगर तुम वसंत के सारे कुसुम संभार को और ग्रीष्म के फलपरिपाक को, अगर स्प्रिंग सीजन की सारी की सारी संवृत्ति को और यूरोप का जो ग्रीष्म है उसकी सारी की सारी संवृत्ति को एक साथ देखना चाहते हो, अगर तुम धरती और आकाश को कहीं एक जगह पाना चाहते हो, मिलते हुए—'आई नेम दी ओ शकुन्तले ! एण्ड ऑल ऐट वंस इज सेड' मैं केवल शकुन्तला का नाम लूँगा, सब कुछ कह दिया जायगा। ये संस्कृत का नाटक था, जो यूरोप के मन पर छा गया, जो गुइथे के मन पर छाया, जो शिलर के मन पर छाया और बाद के यूरोप के बड़े-बड़े कवियों के मन पर छाया। इसके बाद संस्कृत नाटकों में एक गहरी रुचि दुनिया में पैदा हुई, बीसवीं शताब्दी में और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत नाटकों की तरफ ध्यान सारी दुनिया में पैदा हुआ है और बढ़ता गया है।

अभी 12-14 साल पहले अमेरिका के हवाई द्वीप में एक बहुत बड़ा सम्मेलन हुआ। इसमें दुनिया भर के रंगकर्मी, निर्देशक, अभिनेता इकट्ठे हुए और वहाँ भास के नाटकों का प्रयोग किया गया। भास के नाटकों पर विचार हुआ। वो सारी की सारी पुस्तक प्रकाशित हो करके आ गई है। 'इंडियन संस्कृत ड्रामा एण्ड परफारमेन्स' संस्कृत ड्रामा, संस्कृत नाटक अपने प्रयोग में। बड़ी अच्छी किताब है और उससे उनकी गहरी रुचि का पता चलता है। 50 के दशक में संसार का सबसे बड़ा रंगकर्मी और निदेशक ब्रेख्त संस्कृत नाटकों के प्रति आकृष्ट हुआ था। हमारे बीच में हमारे ही मित्र और ग्वालियर के सुप्रसिद्ध रंगकर्मी और रंग-विद्वान् डॉ० वशिष्ठ बैठे हैं, जिन्होंने अच्छी तरह हमारा ध्यान इन सब बातों की ओर दिलाया है।

इस सारे के सारे विशाल साहित्य में जिसमें भास हैं, कालिदास हैं, शूद्रक हैं, इस पूरी की पूरी परम्परा में भवभूति एक बहुत बड़ा नाम है। दुनिया की ऐसी बहुत कम भाषाएँ हैं जिनमें नाटक लिखे गये हों। कविता लिख ली जाती है, कई बार महाकाव्य भी लिख लिए जाते थे। पर दुनिया की सारी भाषाएँ जो साहित्य में समृद्ध हैं, वह भी दावा नहीं कर सकतीं कि सभी भाषाओं के पास नाटक हैं ही और जिनमें नाटक लिखे गये हैं उनमें भी ऐसी भाषाएँ बहुत कम होंगी जो छाती ठोंक कर कह सकें कि एक से ज्यादा बड़ा नाटककार हमारे पास है। एक से बढ़ कर दो हों किसी के पास। दुनिया की शायद अकेली भाषा है संस्कृत जो यह कह सकती है कि कम से कम 5 एक ही श्रेणी के नाटककार हैं—भास, शूद्रक, भवभूति, कालिदास और

पाँचवाँ आप पर छोड़ देता हूँ। बड़ा मुश्किल है यह कह पाना कि उनमें से किसे निकाल कर आपको बताया जाय। लेकिन निश्चय जानिए कि भवभूति की तुलना करते हुए संसार के बड़े से बड़े नाटककार हमारे सामने आते हैं और हम जब भवभूति को उनके सामने रखते हैं तो संस्कृत नाटक की एक ऐसी छवि हमारे सामने आती है, जो दुनिया के बड़े-बड़े नाटककार से टक्कर ले सकती है। अगर नाटक ट्रेजडी ही है, अगर नाटक को हम दुःखांतिका ही समझते हैं, तो ट्रेजडी का वह रूप जो हिन्दुस्तान ने दिया है, उससे परिचय पाने के लिए भवभूति को पढ़ना जरूरी है, भवभूति को करना जरूरी है, भवभूति को देखना जरूरी है। अगर यूनान की वह ट्रेजेडी जो हमारे आंतरिक द्वन्द्व से पैदा होती है, यूनान में लिखे गये वह नाटक जो मनुष्य को नियति के कुचक्र में, नियति के चंगुल में पड़ा हुआ और संघर्ष से गुजरता हुआ पाते हैं, अगर कोई ऐसी दूसरी शक्ति है, जो, मनुष्य को उस संकट में डालती है और संकट में पड़ा हुआ लाचार आदमी, उसका सारा आंतरिक द्वन्द्व एक अद्भुत-एक ऐसी दुनिया में जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, जब तक कि हम उसे देखें, उस आंतरिक द्वन्द्व से यदि परिचय पाना है, तो उस यूनान की ट्रेजेडी को देखना पड़ेगा। जब पहली बार हमें मौका मिला तो सोफ़ोक्लीज की सुप्रसिद्ध ट्रेजेडी को देखने का वह 'ईदिपस रेक्स' थी। उसको भी करने वाले बंगाल के महान् सर्व-विदित अभिनेता और निर्देशक थे शंभुमित्र। मैं आप से कह सकता हूँ कि ऐसे बहुत कम क्षण हैं सौन्दर्यानुभव के जो, उसकी तुलना कर सकें।

ईदिपस, अनाम कहीं पाला गया, कहीं पोसा गया और 18 वर्ष का होते-होते निकल पड़ता है एक के बाद एक विजय करते हुए और किसी ऐसे नगर में पहुँचता है और वहाँ के शासक को पराजित करता है और जहाँ पराजित करने के बाद विजित राजा की पत्नी से विवाह करना—यह नियम है और वह विवाह करता है, विवाह भी होता है बच्चे भी होते हैं और लगातार अकाल और सूखा पड़ता है और इसके कारण को जानने के लिए जब पर्त दर पर्त उघाड़े जाते हैं, तो उसे मालूम होता है कि जिसे उसने वरा है जिसने उसकी संतति को जन्म दिया है, वो उसकी अपनी माँ है। मानवीय नियति की इस विडम्बना को, विडम्बना के इस नाटक को अगर कहीं देखना है,—जो अज्ञात के हाथों एक लाचार मनुष्य है, उस विडम्बना को अगर देखना है, तो सोफ़ोक्लीज़ को देखना आवश्यक है, यूरोपिडीज को देखना लाजिमी है। लेकिन एक दूसरा भी लोक है, ट्रेजेडी का जो यूरोप में आगे चलकर के प्रसिद्ध हुआ, जो शेक्सपियर के यहाँ है, वह भी एक रूप है-—ठीक उसी ढङ्ग से दिल को मथ देने वाला एक अजब प्रकार की लाचारी को पैदा करता है।

पर वह एक अलग संसार है, जिसे भवभूति प्रस्तुत करते हैं। हमारे मित्र प्रोफ़ेसर रथ ने उधर की ओर ही संकेत किया—

भवभूतेः संबन्धाद् भूधर-भूरेव भारतीभाति,
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।

यह भारती है, यह संस्कृत भारती भवभूति के सम्बन्ध के कारण ही पार्वती जैसी लगती है । वरना बात क्या है । भारती धरती जैसी कुछ बनती है, भूधर भू जैसी कुछ बन जाती है, भूधर को धारण करने वाली धरित्री जैसी बन जाती है । कोई सम्बन्ध भवभूति के कारण ही पैदा होता है भारती में भारती में एक कोई नया धर्म आ जाता है । यही बात होगी यही पक्षपात है कि उसकी वाणी सुनने के के बाद चट्टानें भी रोने को मजबूर होती हैं, चट्टानें भी जिसकी वाणी से पिघलती हैं ।

करुण, शोक का वह रूप अज्ञात तो नहीं था, वाल्मीकि के यहाँ ही वह शोक उपस्थित हो गया था—यथा रामायणे करुण-रसः ।

यथाऽहं राघवादन्यम् मनसाऽपि न चिन्तये,
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ।

वो सारी विडम्बनाएँ इतनी लम्बी प्रतीक्षा के बाद, इतने संहार के बाद, विजय के बाद जब इंकार की जाती हैं, सीता को और रास्ता कोई नहीं बचता, जब उसे यह कहना पड़ता है कि अगर राघव से अतिरिक्त किसी को भी स्वप्न में भी किसी को देखा हो, सोचा हो तो ओ माँ धरती तू फट जा, मैं तुझमें समा जाऊँ । यह दुखांतिका यह ट्रेजेडी बार-बार दोहराई जाती है । संस्कृत साहित्य के लिए अपरिचित नहीं है—'भगवति वसुन्धरे, देहि में विवरम्' । वही गूँज है जो कालिदास के यहाँ भी वैसी ही सुनाई देती है । एक अजब बात है । भारतीय जीवन कुछ इस तरह का है कि यहाँ की दुःखांतिका, यहाँ की ट्रेजेडी यहाँ के ऑप्रेसिव समाज से ही पैदा होती है, यहाँ के अत्यन्त दमनशील वातावरण से ही उत्पन्न होती है । यह द्वन्द्व, यह घात-प्रतिघात उस व्यक्ति का और दमन करने वाले चारों ओर के संघर्ष में पैदा होता है। यह लगता है कि वह दुःखांतिका बार-बार दुहराई जाती है । भगवति वसुन्धरे !··· और 'अणज्ज अत्तणो नुहिययाणुमाणेण पेक्खसे'—क्या बात है कि इस दुःखांतिका का आलम्बन नारी ही होती है । इस दुःखांतिका का आलम्बन सीता ही बनती है । क्या कारण है कि—'देव्यामपि हि वैदेह्याम् सापवादोयतो जनः',—'यथा स्त्रीणांतथा वाचां साधुत्वे दुर्जनोजनः' । यह दुःखांतिका स्त्री को लेकर ही घटित होती है । ऐसा होता क्यों है । पर कुछ है और वह दुःखांत, यह करुण और शोक जो करुण में प्रतिफलित होता है, इसका सबसे शक्ति सम्पन्न गायक इसका पुरोधा भवभूति है ।

भवभूति उसी शोक को सम्पूर्ण मानवीय शोक के रूप में उपस्थित कर देता है जहाँ केवल नारी नहीं है जहाँ केवल पुरुष नहीं है जैसा कि भाई भास्कराचार्य ने

कहा कि वह व्याप्ति सबको लाँघती हुई चली जाती है। समेट लेती है। राम और सीता समन्वित रूप में उस शोक के आलम्बन के रूप में जिस तरह वहाँ आ पाते हैं उस तरह राम-कथा चरितार्थता को प्राप्त करती है।

शायद इसीलिये जो कभी वाल्मीकि से पैदा होने वाला कवि था जो फिर उसी राम-कथा के आश्रय से शायद भर्तृमेण्ठ बना फिर वही भवभूति होता है, फिर वही राजशेखर होता है और फिर वे सारे स्वर सम्पूर्ण भारतीय कविता के स्वर बनते हैं—जन कविता के भी, लोक कविता के भी और शिष्ट कविता के भी।

अवध क्षेत्र से मैं आया। मैं उस क्षेत्र को भूल नहीं सकता। यहाँ एक बड़ा ही मार्मिक गीत गाया जाता है। वह मार्मिक गीत घर-घर में दुहराया जाता है। सीता छोड़ी जा चुकी है--दूर वाल्मीकि के आश्रम में सीता चली गई है, और भगवान् वाल्मीकि जो स्वयं उपस्थित हैं, उस सारे संकट से तार देने के लिये सीता को ले जाते हैं। आश्रम में सीता ने जन्म दिया है पुत्रों को और वाल्मीकि व्याकुल होते हैं, बुलाते हैं—आओ भाई आओ, देखो। नाई बुलाया जाता है नापित—यह सूचना लेकर अयोध्या जाओ—वेग से दौड़ते हुए जाओ—जाके बताओ दशरथ को, जाके बताओ कौशल्या को कि उनको पौत्र का लाभ हुआ है—लक्ष्मण को बताओ और भाइयों को बताओ—उन्हें भतीजे का लाभ हुआ है। राम को बताओ उन्हें पुत्र लाभ हुआ है। नापित, वह नाई सूचना लेकर रुचना हाथ में लेकर के चलता है और पहुँचता है—राम बैठे हुए हैं—अयोध्या आ गयी है और काल की बात है और झट अयोध्या आयी है और—

चारों खूँट का सगरवा,
राम बैठे दतुइन करैं,
राम बैठे दतुइन करैं···

एक चतुष्कोण तालाब है और उस तालाब के किनारे कन्धे पर अंगोछा रखा हुआ है। पास में लोटा रखा हुआ है। राम दातौन कर रहे हैं और रुचना लेकर वह पहुँचता है नापित, और राम की ओर देखता है और भाई आ जाते हैं, एकदम दौड़ते हुए, वाल्मीकि के यहाँ से सन्देश आया है—सारा कुनबा उमड़ पड़ता है और नाई संदेश देता है। राजा दशरथ को पौत्र लाभ हुआ है। कौशल्या तुम्हें पौत्र मिला है। लक्ष्मण तुम्हें भतीजा मिला है। भरत और शत्रुघ्न तुम्हें भी भतीजे मिले हैं। इस पूरे संदेश में राम का कहीं नाम नहीं है।

तरल तरल बहें अँसुआं
पटुकवन पोंछइँ
पटुकवन पोंछइँ····

राम के आँखों से केवल आँसू बहते हैं, पोंछते जाते हैं, अँगौछे से पोंछते जाते हैं, दुपट्टे से—पटुकवन पोंछइँ—निरन्तर पोंछते जाते हैं। कोई आँसू पोंछने वाला भी नहीं है। उनके इर्द-गिर्द, आस-पास कोई आँसू पोंछने वाला भी नहीं है—कोई पीठ पर हाथ रखने वाला भी नहीं है—राम वैसे ही रोते रहते हैं। सँभलते हैं—लक्ष्मण को बुलाते हैं—

भैया लक्ष्मण आवहु,
बेगहिं आवहु
सीतहिं बुलावहु····

जल्दी आओ, सीता को बुलाओ—ले आओ। लक्ष्मण भागते हैं—पीछे-पीछे राम और भाई भी भागते हैं—वाल्मीकि आश्रम पहुँचते हैं—और वाल्मीकि तो खड़े हैं—इसी क्षण की तो प्रतीक्षा है—वाल्मीकि को। भारतीय दुःखांतिका का जो एक साक्षी है, उसे इसी एक क्षण की प्रतीक्षा है कि यह दुःखांतिका असाक्षी प्रतीक्षा नहीं है—यह दुःखान्त इसलिए दुःखांतिका नहीं होता क्योंकि इसमें एक साक्षी है—वह साक्षी एक ऋषि है—वह इसी क्षण की प्रतीक्षा करते हुए खड़ा है—आओ राम! आओ। वशिष्ठ हैं पीछे-पीछे—वशिष्ठ भी जाते हैं—सीता को बुलाने के लिए। राम में साहस नहीं है—सीता से कि कहें—तुम चलो—लक्ष्मण में क्या साहस हो सकता है? भरत और शत्रुघ्न में क्या साहस हो सकता है? साहस नहीं हैं किसी को कहने का। मुश्किल से वशिष्ठ आगे बढ़ते हैं और वशिष्ठ कहते हैं वाल्मीकि से कि मैं कहता हूँ कि यह अनघा है। तुम इसे वापस भेजो, वाल्मीकि! वाल्मीकि केवल सीता की ओर देखते हैं, कहते कुछ नहीं। लोकगीत कहता है कि कहते कुछ नहीं—सीता की ओर देखते हैं और सीता जो चिरप्रतीक्षित क्षण के इंतजार में है। वह राम की ओर आँख उठाकर देखती है और अंतिम पंक्तियाँ हैं—

सीता अँखियन में
भरलीं बिरोग
एकटक देखीं·····

सीता ने आँखों में बिरोग भर लिया। भाई राजेन्द्र मिश्र यहाँ हैं। वे बतायेंगे कि बिरोग का क्या अर्थ होता है। अपनी कविता से बतायेंगे। बिरोग में बड़ा गर्भित अर्थ है अवध का, इसमें सारा शोक, सारा संताप, सारी शिकायत है—सब कुछ है। और उन्होंने—

अँखियन में भर लीं बिरोग
एकटक देखीं···
उन्होंने एकटक देखा—
सीता गईं धरती में समाय...

कुछ और नहीं बोलीं, सीता धरती में समा जाती है। वाल्मीकि इस त्रास द दुनिया का कवि है।······भवभूति भी इसी त्रासद दुनिया का कवि है। अगर त्रास को, अगर शोक को इस रूप में देखा जाना है, अगर ट्रेजेडी को इस रूप में देखा जाना है और इसी रूप में हिन्दुस्तान देख भी सकता है—उस दुनिया का कवि भवभूति है–

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रस ।

राम ऊपर से समूचा है, कहीं कोई फाँक नहीं है—पूरा का पूरा समूचा राम है—इसने वरण किया है दुःखांतिका का, स्वयं किसी दूर दैव ने उस पर आरोपित नहीं किया है। इस शोक को इस ट्रेजेडी को देने वाला कोई वहाँ का देव नहीं है, जिसके हाथों कठपुतली हुआ मनुष्य ट्रेजेडी के बंध में फँसता है—यहाँ स्वयं दुःखांत का वरण करने वाला है राम। वरण किया जाता है और वरण किये हुए दुःख के कारण ऊपर कोई फाँक नहीं है। पूरी तरह होशो-हवाश में लिया गया यह निर्णय है, यह हमारा अपना निर्णय है, इसलिये उसका सारा का सारा बोझ खुद राम पर है—अन्य पर नहीं—

··· · ···अन्तर्गूढघनव्यथः
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।

इसलिये अनिर्भिन्न अंग है वह–फूट नहीं पड़ता है—वह भीतर ही भीतर उबल रहा है, छिपा है, पुटपाक सरीखा है राम का शोक। ऊपर वो हाँडी जिसमें लोहा रखा गया है और आग के भीतर रखी गयी है वो हाँडी। जैसी की तैसी निकली है, पर भीतर का लोहा तो भस्म हो चुका है।

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी वो सीता है जो विग्रहवती करुणा ही है। जो बस शोक ही है। शोक का यह गायक मानवीय अन्तर्द्वन्द्व का चितेरा है। जिस संवेदन की बात भाई त्रिपाठी ने की, वह संवेदन मानवीय शोक का आन्तरिक द्वन्द्व का संवेदन है। संस्कृत के किसी कवि में तो मिलना मुश्किल है। शायद दुनिया में इस तरह का आंतरिक संवेदन, आंतरिक संघर्ष मिलना मुश्किल है। जनक, बारह वर्ष बीत चुके हैं, सीता के परित्याग के बारह वर्ष बीत चुके हैं और जनक याद करते हैं—

अपत्ये यत्तादृग् दुरितमभवत्तेन महता
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता।
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन् मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ॥

बेटी के साथ वह जो अपराध किया गया है, वर्षों बीते हैं। सालों के बाद भी सालता है मन को भेदता है मन को, आरा चलता है मन पर।

'अयि मातर्देवयजनसम्भवे देवि, सीते ! ईदृशस्ते निर्माणभाग:, येन लज्जया स्वच्छन्दम् आक्रन्दितुमपि न शक्यते'—हाय बेटी, हाय देवी, देव यज्ञ से पैदा हुई ओ माँ ! किस मिट्टी से तुझे बनाया गया ? ऐसी मिट्टी से कि खुल कर रोया भी नहीं जा सकता। हा हा पुत्रि—

अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्
वदनकमलकं शिशो: स्मरामि स्खलदसमञ्जसमञ्जु-जल्पितं ते ।

हा बेटी, हा बेटी, तेरा वो चेहरा याद आता है–जब तोतली जुबान तू बोलती थी, हँसती थी, रोती थी। कारण कुछ नहीं वो दो दँतुलियाँ तेरी-तेरे अधरों से बाहर झाँकती थीं। बेटी ! तेरा वही चेहरा याद आता है। ओ वसुन्धरे ! देवि सत्यम् अतिदृढासि, सचमुच-सचमुच, बहुत-बहुत पोढ़ी हो, तुम बड़ी पक्की।

त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु-
र्माहात्म्यं यदि वा रघो: कुलगुरुर्देव: स्वयं भास्कर: ।

तुम अरुंधती, गंगा और उस कुल का भी जो जनक है—आदि पुरुष भास्कर इसके पावित्र्य को जानता है। देवी 'विद्यां वागिव यामसूत भवती'। तुमने वैसे ही जन्म दिया जैसे वाक् विद्या को जन्म देती है और शुद्धि के बाद भी 'तस्यास्त्वद् दुहितुस्तथा विशसनम्' इस तरह से किया गया और वो दारुण, उसको तू इसको सहती है। एक ऐसी ये अकथ कहानी है, सीता के साथ दुहराई गई है, जो किसी को भी बड़ा कवि बना सकती है। पर अगर वो भवभूति के हाथ में आये तो फिर भवभूति ही बनाती है। जिसके सम्बन्ध से भूधर भूरेव भारती भाति, मुझे लगता है वह कवि जिसने बड़े मृदु भावों से, जिसने प्रेम से, जिसने संयोग से, जिसने मिलन से अपनी बात शुरू की थी, जिसने मालतीमाधव में कोशिश की थी वैदग्ध्य का और रस का एक साथ मेल हो जाय, जिसने उस मिलन से बात को आरम्भ किया था, वो विरह नहीं उसके भी पार जाकर 'एको रस: करुण एव निमित भेदाद् भिन्न: पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्' जो करुण में जाता है। भारतीय कविता की धारा बहती हुई एक ओर करुणा को गले लगाती है।

ये कवि, बार-बार स्मरण करने योग्य कवि हैं और इस धरित्री के साथ उसका संबन्ध, गोपाचल के साथ उसका सम्बन्ध भी है। मैं कामना करता हूँ कि आगे के दो दिनों में भवभूति के उस काव्य की ओर, भवभूति के नाट्य की ओर, तथा भवभूति के रंगकर्म की ओर-गहरी दोस्ती उनकी रंगकर्मियों के साथ रही है। सूत्रधार दावा करता है कि मेरा तो दोस्त है भाई वो—उस दोस्त की याद रंगकर्मी भी यहाँ पर करेंगे और नये आयाम यहाँ उद्घाटित होंगे। मैं म० प्र० संस्कृत अकादमी

को बिना धन्यवाद दिये, बिना उसके लिये आभार व्यक्त किये रह नहीं सकता जिसने न केवल भवभूति का स्मरण किया, बल्कि उस स्थली के साथ जोड़कर किया जो उनकी कभी क्रीडाभूमि रही होगी। कभी वे पावनी पद्मावती में रहे होंगे, कभी यहाँ की गलियों में यहाँ के वनों में यहाँ की सरिताओं के किनारों पर विचरे होंगे– बहुत करके वो पद्मावती यहीं होगी, यहीं होना चाहिये और हमको तो यही मानकर के इस बात को चलाना है—बहुत सारी बातें करनी हैं। आप सबको मैं भवभूति के स्मरण में सहभागी बनने के लिये अपनी ओर से भी धन्यवाद देता हूँ।

भवभूति के नाटकों में प्रयोगधर्मिता

डॉ० सत्यवती त्रिपाठी

नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में प्रयोग का महत्व निर्विवाद है। नये प्रयोगों के अभाव में नाट्य-कला निष्प्राण हो जाती है। प्रकृष्ट योग ही प्रयोग है। प्रकृष्टता के हेतु प्रतिभाशाली रचनाकार की कल्पना का नवोन्मेष, नूतन उद्भावना तथा नाटक के क्षेत्र में रंगमंच का नया संयोजन हो सकते हैं। इस दृष्टि से नाटक में प्रयोगधर्मिता की तीन दिशाएँ हो सकती हैं—1. वस्तुगत—जो नाटक की विषयवस्तु, कथासंविधान से संबंध रखती है। 2. शिल्पगत—जो वस्तु की संरचना से सम्बन्ध रखती है। तथा 3. रंगशिल्पगत—जो नाटक को मंच पर प्रस्तुत करने की प्रविधि में नवीन उद्भावना से सम्बन्ध रखती है।

भास कालिदास आदि महान् नाटककारों की परम्परा में प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ते हुए तथा परम्पराओं से सार्थक और रचनाशील विद्रोह करते हुए संस्कृत नाटक के क्षेत्र में भवभूति अवतरित होते हैं। अपने पहले नाटक "महावीरचरितम्" में रामायण की कथा को आद्यन्त दो पक्षों के द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत कर आद्यन्त नाटकीयता का निर्वाह भवभूति ने किया है। "मालतीमाधव" में युवा-मन की प्रणय भावनाओं को सामाजिक सन्दर्भों में मार्मिक रूप में चित्रित किया गया है। पिता और किशोर पुत्री के जटिल सम्बन्धों को पहली बार मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ इस नाटक में चित्रित किया गया है। इसी प्रकार उत्तररामचरित भी प्रौढ़ दाम्पत्य के प्रेम का चित्रण करने तथा व्यक्ति और समाज के बीच के द्वन्द्व और व्यक्ति पर समाज के दबाव की समस्या के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्राचीन भारतीय परंपरा में अपने ढंग का अकेला नाटक है। भवभूति ने अपने तीनों रूपकों

में संस्कृत नाटक और नाट्यशास्त्र की प्रचलित रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ते हुए अनेक प्रयोग किये हैं। उन्होंने अपने नाट्य संसार से विदूषक का बहिष्कार किया तथा छिछले हास्य की अपेक्षा गम्भीर सामाजिक व्यंग्य को स्थान दिया। उन्होंने नाटक को अन्तःपुर की सँकरी दुनिया से बाहर निकाला तथा राजाओं की कामक्रीड़ा के व्यापारों के स्थान पर प्रेम के गम्भीर और उदात्त रूप का चित्रण किया।

भवभूति में आकर पहली बार संस्कृत नाट्यधारा ने श्रृंगार की तुलना में करुण के निस्सीम प्रसार को जाना। नाट्यशिल्प और रंगशिल्प की दृष्टि से भी भवभूति के अनेक प्रयोग उनकी मौलिक दृष्टि के परिचायक हैं। मन्दिरों की यात्रा–महोत्सव में विशाल जन-समूह के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए लिखे जाने के कारण उनके नाटकों का फलक और कार्य-व्यापार बहुत विस्तीर्ण है। उत्तररामचरित के तीसरे अंक में सीता का अदृश्य रहना और राम को उसका आभास होना करुणा की अपूर्व सृष्टि करता है। इस नाटक के अन्तिम अंक में गर्भांक के अन्दर नाटक के अन्दर नाटक का प्रयोग भी पूरे नाटक को तेजी से निर्वहण की ओर मोड़ देता है।

यात्रामहोत्सवों में जुटे विराट् जन समुदाय की लोकरुचि, मन्दिर और यात्रा-महोत्सवों के वातावरण तथा विशाल रंगमंच की अपेक्षा ने निश्चित रूप से मन्दिर की रंगशाला के लिए लिखे जाने वाले नाटकों की विषयवस्तु और नाटकीय संरचना को प्रभावित किया है। कथाएँ रामायण या बृहत्कथा से ली गई हैं। विदूषक और अन्तःपुर की प्रणय-क्रीड़ाओं के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। संवाद तथा पात्रों के कार्य-व्यापार में, प्रासाद की रंगशाला के नाटकों में प्राप्त आभिजात्य, परिष्कार तथा मसृणता के स्थान पर बलशालिता, गत्यात्मकता तथा एक प्रकार के अनगढ़ सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। भरत के विधिविधानों का यहाँ खुले आम उल्लंघन है। उत्तर-रामचरित तथा मालतीमाधव में शयन तथा आलिंगन के दृश्य स्पष्टतया प्रदर्शित किये जाना अपेक्षित है। भवभूति पटीक्षेप या अपटीक्षेप का प्रयोग भी नहीं करते। मालतीमाधव में प्रतिहारी के लिए अतित्वरा का द्योतक "अथ नेपथ्यार्धप्रविष्टा"— यह सर्वथा अनूठा रंगसंकेत वे देते हैं। भरत और उनके अनुयायी राज-प्रासाद की रंगशाला के नाटककार—पात्रों के जिन कार्य व्यवहारों को हस्त, करण आदि की विशिष्ट मुद्राओं से दिखाना चाहते, उन्हें भवभूति बहुत लौकिक रूप में दिखाना चाहते हैं। उदाहरणार्थ "मालतीमाधव" में माधव, मकरन्द और कलहंस वातायन से नीचे सड़क पर जाती मालती को देखते हैं—"जालमार्गेण पश्यामः (तथा कुर्वन्ति) और मकरन्दमाधवौ सकौतुकं पश्यतः।" मालती लवङ्गिका के भ्रम में माधव को बहुत देर सानन्द आलिङ्गन किये रहती है। नवें अंक में योगिनी के उत्पतन और निपतन में भी नाट्य मुद्राओं का संकेत नहीं है। उत्तररामचरित में 'पुष्पकादवतरन्' तथा "सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा" इत्यादि रंगसंकेत संस्कृत नाटक के लिये कुछ नये ही हैं।

इस प्रकार पात्रों के कार्य कलाप और उनके लिये प्रयुक्त रंगसंकेत भवभूति की नव प्रयोगक्षम मौलिक रंग-सृष्टि के परिचायक हैं।

नाट्यशिल्प और रंगशिल्प की दृष्टि से एक ही संवाद दो पात्रों के मुख से एक साथ कहलाना या एक संवाद को टुकड़ों में तोड़ कर अलग-अलग कई पात्रों से कहलाना भी भवभूति का अपना प्रयोग है। मालतीमाधव में पाँचवें अंक में अघोरघंट तथा माधव दोनों एक साथ एक ही पद्य बोलते हैं, पर दोनों के संबोधन के विषय अलग-अलग हैं—अघोरघंट कपालकुंडला से, माधव मालती से वही बात कहता है। यही स्थिति उत्तररामचरित के तीसरे अंक में है जहाँ तमसा और वासंती क्रमशः सीता और राम के प्रति एक साथ एक संवाद बोलती हैं। एक संवाद को तोड़कर कई पात्रों के मुख से पृथकशः कहलाने का प्रयोग महावीरचरित में अनेकत्र आता है।

निश्चय ही भवभूति ने अपनी उर्वर प्रतिभा से प्रयोग की अछूती संभावनाएँ उजागर की हैं तथा वस्तुसंविधान, नाट्यशिल्प और रंगशिल्प—तीनों दिशाओं में नयी परिकल्पनाएँ रखी हैं।

यह सत्य है कि उनके नाटक रंगकर्मियों के लिये चुनौती रहे हैं। पर विश्व की हर महान् नाट्यकृति प्रत्येक देश-काल के रंगकर्मियों के लिये चुनौती रही है। भवभूति अपने समय के रंगमंच की एक जीवंत परम्परा से सक्रिय रूप से जुड़े थे। इस परम्परा से अपरिचय के कारण समीक्षक उनकी कृतियों के प्रयोग योग्य न होने या प्रयोग की दृष्टि से सदोष होने का प्रवाद फैलाते हैं। रंगमंच की भारतीय परंपरा को न समझने के कारण पाश्चात्य समीक्षकों ने भवभूति के विषय में ऐसी भ्रांत धारणा प्रचारित की है और कुछ भारतीय पंडित भी गड्डुलिकाप्रवाहन्याय से उसका अंधानुकरण करते आ रहे हैं।

———

भवभूति की कविता में मनोराज्य का चित्रण

डॉ० राजेन्द्र मिश्र

कालिदास, भवभूति एवं बाणभट्ट—ये तीनों ही कवि तीर्थराज प्रयाग–सदृश संस्कृत-काव्य की त्रिवेणी हैं। बाणभट्ट की कविता कादम्बरी-चन्द्रापीड, एवं महाश्वेता-पुण्डरीक का प्रणय-सम्भार वहन करने के कारण कालिन्दी की शोभा प्राप्त करती है, तो प्रत्यक्ष उपकार करने की क्षमतावश एवं समस्त सांसारिक शोक-सन्देह के उन्मूलन की सामर्थ्य के कारण भगवती भागीरथी की छवि को प्रस्तुत करती है कालिदास की कविता। परन्तु भवभूति की कविता अन्तर्नीरा सरस्वती के समान प्रकाशित होती है विद्वानों सहृदयों, योगियों तथा प्राज्ञों के हृदयों में। धूर्जटी के भस्माङ्गराग की तरह समुज्ज्वल, शरत्पुण्डरीक-पाण्डुर भवभूति की कविता संघटनाओं तथा लोकवृत्तों के अन्त साम्राज्य अथवा मनोराज्य को प्रकट करती है। स्वयंवरादि के वर्णनों में, सर्वजनसंवेद्य लोकघटित वृत्तों में, घटनाओं की उपकल्पनाओं में, भावोत्प्रेक्षणों में अथवा अन्यान्य समानधर्मा स्थूलातिस्थूल कथानकों में महाकवि भवभूति का अणुमात्र भी अभिनिवेश नहीं दीखता। परन्तु मनोराज्य के व्यतिकर प्रकाशन में अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण में, उच्चावच अनुभूतियों के विभावन में, गूढ़ातिगूढ़ संवेदनाओं के प्रकाशन में, अचिन्त्य के चिन्तन में, अनिर्वचनीय के निर्वचन में तथा मानव हृदय के गह्वर में चिरप्रस्तुत बीजभूत संस्कारों के जागरण में कवि पूर्ण प्रयत्नवान् है।

जीवनजीवितभूता मैथिली के परित्याग-सन्दर्भ में उपजी श्रीराम की व्यथा को कौन नहीं जानता। वाल्मीकि से लेकर अधुनातन कवि तक, सीता एवं राम की जीवन-चर्चा का आश्रय लेकर किस श्रेष्ठकवि ने अपना कवि दर्प नहीं शान्त किया! परन्तु श्रीराम एवं वैदेही की निगूढ़ अन्तर्वेदना को भी वह लोक के समक्ष

सुस्पष्ट कर सकने में वह समर्थ हो सका, ऐसा स्वीकार कर लेना सहज नहीं है। कविकुलगुरु कालिदास की सीता भी "वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा" आदि मान-ईर्ष्या में डूबी वचोभंगियों द्वारा लक्ष्मण को संबोधित करती हुई प्रबुद्ध सी परिलक्षित होती है। भास भट्टि, कुमारदास, अभिनन्द तथा राजशेखर आदि कवियों की वैदेही भी नारी-व्यक्तित्वैक-विशिष्ट बिम्ब को स्थापित करती है अपने वाग्व्यापारों से। परन्तु सीता अथवा राम का मनोराज्य कहीं भी पूर्णतः परिस्फुट नहीं दीखता। श्रीराम की अन्तर्गूढ़घनव्यथा तो श्रीराम बन कर ही प्रकट की जा सकती है, वह शत-प्रतिशत सत्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि एक महाकवि भवभूति के अतिरिक्त कोई भी अन्य संस्कृत कवि श्रीराम के साँचे में ढला हुआ परिलक्षित नहीं होता।

सहृदयों की वाचोव्रक्ति है "उत्तररामचरित में भवभूति (कालिदास की नाट्य-कला से) आगे है।" इस कथन का साक्ष्य उत्तरचरित के प्रारंभ में ही प्राप्त होता है। श्रीराम का प्रत्यक्ष आचरण भले ही कुछ और हो परन्तु उसके समानान्तर ही वह अपने मनोजगत् का अनुभव भी भली-भाँति करते हैं। चित्रकार अर्जुन द्वारा निर्मित चित्रपट को देखते हुए राम पञ्चवटी का प्रसंग आते ही निःश्वास लेकर कहते हैं— "हाय! जनस्थान का वृत्तान्त तो मुझे प्रत्यक्ष घटता हुआ सा प्रतीत हो रहा है!" सीता की भी ऐसी ही अनुभूति है—आर्य बस यहीं तक मुझे आपका दर्शन हुआ! यद्यपि चित्रपट पर अर्पित होने के कारण, शूर्पणखा-विवाद का प्रसंग केवल आँखों का मनोरञ्जन करने में समर्थ है, फिर भी 'चित्रतुरगन्याय' से वह सन्दर्भ राम और सीता के हृदय में प्रसुप्त शोक स्थायिभाव को कन्दलित ही करता है। राम सीता को समझाते हैं—अरी वियोग त्रस्ते! यह तो चित्र है!

इसका तात्पर्य बस इतना है कि प्रत्यक्ष अनुभूत जो कोई भी घटना सुख अथवा दुःख को जन्म देती है वही आलेख्यगत होने पर अथवा काव्यगत वर्णन बन कर मनो-रंजन-मात्र करती है। ऐसा क्यों! शायद इसलिए कि घटनाओं की प्रत्यक्षानुभूति में आत्मसंस्पर्श होता है। परन्तु उसी घटना के आलेखन अथवा कथन में यह आत्मसंस्पर्श समाप्त हो जाता है अथवा कम हो जाता है। यह आत्मसंस्पर्श अथवा वैयक्तिकता का साथ जितना ही कम होता है, मनोरञ्जन उतनी ही मात्रा में वृद्धि को प्राप्त करता है। भगिनी का चित्र आत्मसंस्पर्श (अपनत्व अथवा वैयक्तिकता) के ही कारण "रण-रणक" नहीं उत्पन्न करता परन्तु सामान्य, अपरिचित रमणी का चित्र तत्क्षण उन्माद पैदा कर देता है क्योंकि व्यक्तिगत सम्बन्धों से परे वह रमणी प्रत्येक व्यक्ति को "कामरसायनभूता" ही प्रतीत होती है।

सीता के वियोग में राम ने क्या किया! वह कितना रोये-विलखे, कितना भटके, किस-किस से सीता के विषय में पूछा! कब गिरे! कब मूर्च्छित हुए, कब उठे

इन सारी बातों को सीता नहीं जान सकीं। क्योंकि ये सब परोक्ष-घटित घटनाएँ थीं, परन्तु लक्ष्मण के मुँह से अपने प्रियतम राघव की मंत्रणा सुनकर अब वह भी मन में सोचती हैं—"हाय ! दिनकर कुलनन्दन मेरे कारण इस सीमा तक क्लान्त हुए !" दूसरी ओर राम भी वैदेही की इस मानसिक पीड़ा को नहीं जानते। पुर्नविपच्यमान दुःखाग्नि हृदय के मर्मंव्रण की तरह उनकी वेदना को बढ़ा देती है। इस प्रकार चित्रपट-प्रदर्शन तक राम और सीता—दोनों ही अपने व्यतीत दुःख-प्रपञ्च के स्मरणमात्र से कातर दिखाई पड़ते हैं। राम और सीता का मनोजगत् जो उनके जीवन की प्रत्यक्ष घटनाओं से एकदम अलग-प्रसंग है–मात्र भवभूति की लेखनी से उजागर हो पाता है।

समालोचकों की दृष्टि में कारुण्य का प्रकाशन करना भवभूति ही जानते हैं। यह उचित ही है। क्योंकि भवभूति ने जैसे कारुण्य की स्थापना की, वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। करुण रस का शोक स्थायिभाव होता है और शोक इष्टजन की मृत्यु से, कारागारादि से अथवा अनिष्टसम्प्राप्ति से उत्पन्न होता है। दशरूपककार कहते हैं—'इष्टनाशादनिष्टप्राप्तौ शोकात्मा करुणोनुतम्' इति—जैसे कादम्बरी में पुण्डरीक की मृत्यु, रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु अथवा कुमार संभव में काम की मृत्यु वर्णित की गई है। उत्तरचरित्र में वैसा कोई संविधानक नहीं है। सीताविरही श्रीराम तो पूर्णतः प्रियाविधुर अभिशप्त यक्ष की प्रतिच्छायाभूत हैं। ऐसा साम्य होने के बावजूद भी क्यों मेघदूत काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार प्रधान है और उत्तरचरित में करुणरस ? इसकी विवेचना युक्तिपुरस्सर होनी चाहिये। यदि शास्त्रोक्त मर्यादा को उपेक्षित करके करुणरस परिपुष्ट होने लगेगा तो अन्यान्य काव्यों में प्रतिपादित करुण-प्रसंगों का औचित्य क्या होगा ! इष्टनाश के अभाव में भी यदि करुण संभव है, तो मेघदूत में भी उसे क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ! विपर्यय की स्थिति में उत्तरचरित में ही क्यों विप्रलम्भ शृङ्गार प्रधानरस के रूप में स्वीकार किया जाता।

भवभूति का मनोराज्य चित्रण इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। जैसे प्रियजन को प्रत्यक्ष देखते रहने की तुलना में, उसके अभाव में उसकी स्मृति बलवती होती है, ठीक उसी प्रकार सांसारिक करुणघटना की अपेक्षा, करुणा की मानसी संवेदना अपेक्षाकृत अधिक द्रुत, पटु, वृहत्, गुरु तथा महान् होती है। संसार की दृष्टि में रामभद्र 'दारत्यागी' हैं। वैदेही भी दयित-परित्यक्ता है। ये दोनों ही घटनायें लोकवृत्त का अंग होने के कारण कुछ विलक्षण नहीं प्रतीत होतीं। समाज की सामान्य घटनाओं के समान ही 'सीतापरित्याग' की भी घटना कविता से ही ज्ञात हो पाती है, परन्तु इस साधारण घटना का अन्तःपक्ष कितना असाधारण है, वह भवभूति की कविता से ही ज्ञात हो पाता है, वैदेही की वियोगानुभूति राम को तथा राम की वियोगानुभूति वैदेही को आलर्क विष के समान मूर्च्छित बना देती है। राम और

सीता की जिस मानसी वेदना को, प्राणाच्छिद दुर्व्यथा को समाज हजारों-लाखों प्रयत्नों से भी नहीं जान सका था, उसी को भवभूति ने अपनी प्रतिमा से हस्तामलकवत् विशद बना दिया—यह महान् आश्चर्य है।

वैदेही के मरणाभाव में भी राम की वही व्यथा शोक की पराकोटि को भी अतिक्रान्त कर जाती है। इसी प्रकार श्रीराम के भी मरणाभाव में वैदेही की वही व्यथा निखिलब्रह्माण्डव्यापी शोक का उत्सभूत परिलक्षित होती है। यद्यपि दोनों ही शोकव्यथा का अनुभव करते हैं तथापि रामचन्द्र सीता की तुलना में कहीं अधिक करुण हैं। जो अपराध करता है, प्रायश्चित्त भी वही करता है—वही शास्त्रन्याय है। सीता-परित्याग के सन्दर्भ में भी अपराधी राम ही हैं अतएव उन्हीं का शोक परतर प्रतीत होता है।

उत्तरचरित के प्रथमांक में सारा का सारा चित्र दर्शन प्रसंग 'शोकप्रत्यभिज्ञा' की पुष्टि करता है। अपनी उदग्रता, उल्वणता तथा तीव्रातितीव्र संवेदना से विप्रलम्भ ही शोकरूपता को प्राप्त होता है ऐसा मैं समझता हूँ। यक्षिणी के दैन्यचित्रण में कालिदास लिखते हैं—'शय्योत्संगे निहितमसकृत् दु खदु:खेनगात्रम्।' इस वर्णन से कालिदास क्या सूचित करना चाहते हैं! अतिशय दु:ख के साथ बार-बार-शरीर को धारण करती हुई यक्षिणी यहाँ कवि द्वारा वर्णित की जा रही है। तो क्या शरीर भी बार-बार धारण किया जाता है! इसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है। जब किसी विरहिणी नायिका द्वारा प्रियसंगम की कामना-वश, मृत्यु-मंत्रणा तक का तिरस्कार करके जिया जाता है, तो उस दशा में निश्चय ही शरीर बार-बार (असकृत्) धारण किया जाता है। यहाँ यद्यपि कालिदास 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग नहीं करते फिर भी विशिष्ट शब्द-प्रयोग से मृत्यु को भी न्यूनतम सिद्ध कर देते हैं।

क्रान्तदर्शी कवि में ऐसी ही क्षमता होती है। कभी वह वासर को भी वत्सर बना देता है और कभी अपनी वर्णना से वत्सर को भी वासर बना देता है। अब आइये पूर्वोल्लिखित शब्द 'शोकप्रत्यभिज्ञान' पर। यह शोक का प्रत्यभिज्ञान क्या है! प्रत्यभिज्ञा क्या है! तत्ता और इदत्ता का (युगपत्) अवगाहन करने वाली प्रतीति ही प्रत्यभिज्ञा है। जब अमुक पुरुष, अमुक काल तथा अमुक स्थान रूपी व्यतीत व्यक्ति-काल तथा दोनों से युक्त तत्ता, यह पुरुष, यह काल तथा यह स्थान एवं-कारक प्रत्यक्ष व्यक्ति काल तथा देश से युक्त इदत्ता इन दोनों की एक ही साथ प्रतीति होती है तो उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

उत्तरचरित के चित्रदर्शन-प्रसंग से ऐसा ही शोक-प्रत्यभिज्ञान होता है। जो शोक कतिपय वर्ष पूर्व जनस्थान में राम एवं सीता को प्राप्त हुआ था वह अब अयोध्या में उन्हें प्राप्त हो रहा है। शोक अथवा वेदना की तो तात्कालिकी अनुभूति ही प्राणियों के धैर्यद्रुम को समूल उन्मूलित कर देती है। तब फिर उस शोक की क्या बात की जाय जिसकी सद्य:अनुभूति, उसकी पुरातन अनुभूति से प्रगुणीकृत हो उठी है। ऐसे

शोक का तो एक टुकड़ा भी मृत्यु को छोटा सिद्ध कर देने में समर्थ है। ऐसे ही शोक-प्रत्यभिज्ञान से स्फुटित हृदय वाले श्रीराम, अनुज लक्ष्मण के आर्येणास्मिन् आदि वचनावलियों को बीच में ही काटकर चीख उठते हैं—रुको, रुको लक्ष्मण ! इसके आगे सुन पाने में समर्थ नहीं हैं। मुझे लगता है जैसे जानकी का वियोग पुनः लौट सा आया है।

भवभूति के कारुण्य-नाटक का यह जवनिकोद्घाटन है। इसके अनन्तर ही भवभूति की तूलिका से प्रकल्पित, उत्तरोत्तर समुपचित वेदनारूपी बाल-मृग दण्डकारण्य-वर्णन के प्रसंगों में दीखने लगते हैं। शम्बूक-वध के प्रसंग में जैसे ही श्रीराम चिर-परिचित जनस्थान में पहुँचते हैं वैसे ही उनका शोक-प्रत्यभिज्ञान उदग्र हो उठता है। दुर्भाग्य कि जिस द्वितीय जीवितभूता वैदेही का क्षणावधिक वियोग भी तन्मुख-चन्द्रिका-चकोरायमाण राम नहीं सह सके थे, वही सीता निरवधि-वियोग का पात्र बन गई ! वही सीता प्राणवल्लभ राम के लिये आकाशकुसुम बन गई ! वैदेही के संस्पर्श सौख्य का वर्णन तो उपचार मात्र है। अवाङ्मनस्-गोचर ब्रह्म के समान यह स्पर्शानुभूति भी सर्वथा अनिर्वचनीय है। फिर भी कवि द्वारा जो कुछ वर्णन किया जाता है वह सब औपचारिक ही है। उस स्पर्श का पारमार्थिक सौख्य तो केवल श्रीराम अनुभव करते हैं। यही है मनोराज्य राम एवं सीता का, जिसे अभिव्यक्त करते हैं महाकवि भवभूति।

विरह-वियोग की घटना तो प्रत्यक्षतः पीड़ित करती है कुछ समय तक। परन्तु उस विरह की भावना अथवा स्मृति तो जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों ही अवस्थाओं में प्रभूत पीड़ा देती है। राम के वक्षःस्थल पर ही सोई वैदेही जब सपने में बोलती हैं– आर्यपुत्र ! तुम कहाँ हो ! तब श्रीराम कहते हैं—अरे, चित्रदर्शन से उत्पन्न वही रणरणक उभारने वाली वियोग की भावना देवी सीता को स्वप्न में भी अशान्त बना रही है।

अन्य कवियों के काव्यों में विद्यमान कारुण्य तो घटनामात्राश्रित है, वह घटना के अपक्षय के साथ ही स्वयं भी अपक्षीण हो जाता है। परन्तु भवभूति की कविता में ऐसा नहीं है। जैसे पुष्प-पाँखुरी में बँधी होकर भी पुष्प गन्ध सारी विलासवनिका को मँहका देती है अपने प्रसार से ठीक उसी प्रकार राम के हृदय-गह्वर में विलीन करुणा अपने प्रभाव-सम्भार से बाहर निकलकर समूचे भुवन मण्डल को भावित कर देती है। तभी तो लक्ष्मण कहते हैं—

जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि वज्रस्य हृदयम्।

श्रीराम की यह करुणा विलक्षण है, यह शोक अनन्य-साधारण है। क्योंकि

प्राकृतजन की तरह राम सीता के परित्याग-सन्दर्भ में रोते नहीं । राजा हैं न ! शील, समुदाचार, धैर्य, संयम तथा दाक्षिण्यादि सद्गुणों के आश्रयभूत ! यदि पत्नी को त्याग कर वह भी रोयें-विलखें मूर्छित हों, वेदना का अणु मात्र भी अनुभव करें तो फिर उनमें बड़प्पन क्या रहा ? लोकोत्तरों के चित्त को कौन जान सकता है भला ! उनके हृदय तो वज्र से भी अधिक कठोर तथा कुसुम से भी अधिक सुकुमार हुआ करते हैं । प्रजानुरंजन-मात्र के लिये, वैश्वानर-परीक्षिता भी प्राणप्रिया को त्यागते हुए श्रीराम का हृदय सचमुच वज्रकठोर प्रतीत होता है । शौनिक के समान श्रीराम ग्रह-शकुन्तिका जैसी वैदेही को सौंप देते हैं मृत्यु को ! परन्तु एक बार भी उनके मुँह से पीड़ा की सिसकारी तक भी नहीं फूटती । बस यही आश्चर्य है । उनकी करुणा न आँसू बनकर झरती है, न ही प्रलाप बन कर मुँह से फूटती है । यदि ऐसा होता तो फिर राम भी सामान्य सांसारिक प्राणी की तरह दयिता-मुखचन्द्रदर्शन-कातर ही सिद्ध होते ।

परन्तु क्या सचमुच राम नहीं रोते, मूर्छित नहीं होते ! ऐसी बात नहीं है । उनका सारा संशय और धैर्य का नाटक मात्र पौरजनपदों के लिये था । शीलसमुदाचार तथा आर्जवमात्र की रक्षा के लिये राम विलाप नहीं करते । अयोध्यापुरी विलास योग्य स्थली भी तो नहीं है और न ही अयोध्या नरेश राम विलाप करने योग्य पुरुष हैं । परन्तु जैसे ही राम कौशल का परिवेश छोड़ दण्डकारण्य पहुँचते हैं, जैसे ही राम अयोध्यानरेश का मुखौटा उतार कर सीतापति बनते हैं, बस वैसे ही प्रबल वेग वाली उनकी हृदय करुणा धैर्य के पुलिनबन्ध को तोड़कर फूट निकलती है और समूचे दण्डकवन को अपने प्लावन में आत्मसात् कर लेती है । प्रियाप्रणय-कातर राम इस समय झूठी मर्यादाओं के बन्धन में जकड़े हुए कोई राजा नहीं हैं । इसलिये प्राकृतजन की तरह, धैर्य को तिलाञ्जलि देकर वह सीता के लिये उन्मुक्तभाव से विलाप करते हैं— हेभगवन्तः पौरजनपदाः' आदि सम्बोधन द्वारा ! वह उलाहना देते हैं अयोध्या की प्रजा को, जिसने यह हृदय दाही शूल उन्हें उपायनीकृत किया है ।

श्रीराम की वचनावलियों से ही उनके मनोजगत् का ज्ञान हो पाता है । यदि भवभूति न होते तो कौन बताता कि सीता के वियोग में राम ने कौन, कितनी, कैसे, कब और कहाँ वेदनाएँ सहीं ! परन्तु राम स्वयं अपनी यंत्रणा स्वीकार करते हैं— अयि वासन्तिः मया खलु

यथा तिरश्चीनमलातशल्यं प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दन्तः
तथैव तीव्रो हृदि शोकशंकुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढः ॥१॥

स्वयमेव प्राणप्रिया का परित्याग करके विलपन-विनोद जिसके लिये सुलभ न हो, उनकी करुणा भला सर्वजनसाधारण कैसे हो सकती है ! इसीलिये तो राम लोको-

त्तर-व्यथा का अनुभव करते हैं शोकोद्वेग से उनका हृदय विदलित होता है, परन्तु द्विधा खण्डित नहीं हो पाता । विकल शरीर मूर्च्छा का अनुभव तो करता है, किन्तु चेतना को त्याग नहीं पाता । अन्तर्दाह शरीर को भीतर ही भीतर दग्ध तो करता है, परन्तु भस्मसात् नहीं करता । मर्मच्छेदी विधि प्रहार तो करता है, परन्तु जीवन-सूत्र को सर्वथा समाप्त नहीं कर देता । क्या इससे भी अधिक दारुण शोक की कल्पना की जा सकती है ।

जब दण्डकारण्य में पहुँचकर राम का धैर्यबन्ध टूटता है, उनकी अन्तर्गूढ़ घन-व्यथा जब बरजोरी प्रकट हो उठती है तब वहाँ का समूचा वातावरण उनकी करुणा से प्लावित सा दीखता है । हृदय के फूटने पर तथा देहबन्ध के ध्वंसमान होने की स्थिति में राम सम्पूर्ण संसार को शून्य मानने लगते हैं । भीतर ही भीतर अविरल-ज्वाला जलने लगती है । अन्धतमस् में निमग्न उनकी विधुर अन्तरात्मा डूबने सी लगती है । ऐसे करुण-सन्दर्भ में राम किंर्तव्यविमूढ़ हो उठते हैं । मैं समझता हूँ कि मर्यादापुरुषोत्तम राम की इसी घोर व्यथा को न सह पाने के कारण महाकवि भवभूति ने प्राक्तन परम्परा की उपेक्षा करके, वैदेही के साथ उनके शाश्वत संगम की कल्पना कर डाली ।

वैदेही की रति, वासन्ती का विस्मय, तमसा का निर्वेद, जनक का वात्सल्य, कुमार लव का उत्साह इस प्रकार प्रायः सारे के सारे स्थायिभाव श्रीराम की करुणा में ही पर्यवसित हो जाते हैं यद्यपि भोज श्रृङ्गार को ही सर्वरसनिष्यन्दन भूत मानते हैं । परन्तु भवभूति तो करुणा को ही सर्वरसानुप्राणक मानते हैं । इष्टजनवियोगजन्य दुःख अतिशय, निर्भरानन्दविद्रूप करुणरस एक होता हुआ भी निमित्त के भेद से व्यञ्जकविभावादि-विच्छित्ति के वैशिष्ट्य से पृथग्भूत किंवा विलक्षणता को प्राप्त पृथक्-पृथक् विवर्तों अथवा परिणामों को प्रकट करता है ऐसी व्याख्या उत्तरचरित के व्याख्याकार वीरराघव करते हैं । रागियों तथा विरागियों में साधारण होने के कारण तथा प्राचुर्य के कारण एकमात्र रस करुण ही है । अन्य रस तो उसकी विकृतियाँ भर हैं । अनुकार्य रामादि में कारुण्य के दुःख रूप होने पर भी सहृदयों में उसकी परिणति आनन्दरूप में ही होती है ।

———

भवभूति के नाट्य में संघर्ष की अवतारणा

डॉ० क्षेत्रवासी पण्डा

जीवन और संघर्ष दोनों आपस में ऐसे जुड़े हुए हैं कि एक को अलग करके दूसरे को नहीं देखा जा सकता। समाज में अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिये हर प्राणी को जीवन-संग्राम में उतरना पड़ता है। यदि कहा जाय कि जीवन का आधार संघर्ष ही है तो शायद कोई अत्युक्ति नहीं होगी। जीवन की अनुकृति होने के कारण साहित्य की प्रत्येक विधा में भी संघर्ष अस्तित्व का अनुभव किया जा सकता है, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य। अतः नाटक में, चाहे वह किसी भी प्रान्त का हो, संघर्ष प्रतिफलित होने के साथ-साथ उसे प्रभावित भी करता है। इसलिये पश्चिम में यह उक्ति—"no conflict no drama" अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी है। पर, यह ध्यातव्य है कि अरस्तू या भरत ने संघर्ष (conflict) को नाटक के एक मूलभूत तत्त्व के रूप में विवेचित नहीं किया है। इससे यह समझना अनुचित है कि ये दोनों आचार्य इस प्रमुख नाट्य-तत्त्व से अनभिज्ञ थे।

यह सर्वविदित है कि अरस्तू के पहले भी एस्किलस, सोफोक्लीज तथा यूरीपिडीज आदि अनेक ग्रीक नाट्यकार प्रसिद्धि पा चुके थे, जिनके नाटकों का मूल तत्त्व ही संघर्ष है। विशेष रूप से सोफोक्लीज के नाटक 'ईदियस रेक्स' से अरस्तू इतना प्रभावित होते हैं कि वह अपने ग्रन्थ 'पोएटिक्स' में स्थान-स्थान पर उसका उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि संघर्ष को हटा दिया जाय तो यह नाटक निराधार बन जाता है। अतः इस प्रमुख तत्त्व से अरस्तू अपरिचित नहीं रहे होगे; भले ही इसे एक अलग नाट्यतत्त्व के रूप में उन्होंने नहीं स्वीकारा। वे त्रासदी के ऊपर अधिक बल देते हैं, त्रासदी के बीज संघर्ष को कैसे अनदेखा कर

सकते हैं ? 'पोएटिक्स' के विश्लेषण से यह पता चलता है कि 'पेरीपिटी' आदि कुछ तत्त्वों के माध्यम से अरस्तू संघर्ष के महत्त्व को स्वीकारते हैं। इसके अलावा त्रासदी के लक्षण में भी संघर्ष का तत्त्व प्रच्छन्न रूप से निहित है। आचार्य भरत के साथ भी यही बात देखी जा सकती है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्', 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' आदि नाट्य लक्षणों में तथा कालिदास की 'त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं' नानारसं दृश्यते' इस उक्ति में भी परोक्ष रूप से संघर्ष को नाटक के एक अविभाज्य अंग के रूप में माना जा सकता है। किसी भी कृति में सत्त्व रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की उपस्थिति तनाव की स्थिति पैदा करती है। इसके अलावा नाटकों में सन्धि-विधान के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, जिसकी कल्पना संघर्ष के बिना नहीं की जा सकती है। यदि देखा जाय तो संस्कृत की हर नाट्य वस्तु नाना संघर्षों के बीच अनेक बाधाओं का अतिक्रम करके एक संधि से दूसरी संधि तक पहुँचती है। खासतौर से गर्भ संधि तो नाट्य वस्तु में संघर्ष का आधार है। अत. यह स्पष्ट है कि भले ही पश्चिम तथा पूर्व में सघर्ष को एक अलग नाट्य तत्त्व के रूप में नहीं गिना गया, फिर भी दूसरे तत्त्वों के माध्यम से इसके.प्राधान्य को स्वीकारा गया है और पूरे विश्व में शायद ही ऐसा कोई नाट्यकार होगा, जिसकी कृति इस महत्वपूर्ण तत्त्व से अछूती रही हो।

भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों में संघर्ष की स्थिति को अच्छी तरह पहचाना जा सकता है, क्योंकि संघर्ष के जितने भी प्रकार हो सकते हैं वे सब इनमें उपलब्ध हैं। 'उत्तररामचरित' में सीता का परित्याग पूरे नाटक में संघर्ष का बीज बोता है। सीता की लोक निन्दा से अवगत होकर राम मर्माहत हो जाते हैं और यहाँ से शुरू होता है संघर्ष की स्थिति, राम के मन में अन्तर्द्वन्द्व शुरू होता है। सीता के ऊपर उनका विश्वास अटल है। वे जानते हैं कि सीता निर्दोष है, निष्पाप है, फिर भी यह चोट उन्हें प्यार तथा कर्त्तव्य की एक संघर्षमय स्थिति में डाल देती है। वह नहीं चाहते हैं कि सीता उनसे दूर हो जाय, पर राजकीय कर्त्तव्य उन्हें विवश कर देता है। उनका यह मानसिक तनाव धीरे धीरे-अगले अंकों में उभरता जाता है। उनके अन्तर्द्वन्द्व का उदाहरण इससे अच्छा और क्या हो सकता है, जब दुर्मुख वचन सुनने के बाद हतप्रभ राम के मुख से यह वाणी निकलती है—'अहह तीव्रसंवेगो वाग्वज्रः'। सीता परित्याग रूपी कुठाराघात से आहत रामचन्द्र अपनी बाँहों में निश्चिन्त होकर सोई हुई सीता से कहते हैं—

शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम्।
छद्मना परिददामि मृत्यवे सौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥

एक राजा के नाते यद्यपि वे सीता के परित्याग का निर्णय लेते हैं, फिर भी एक पति के रूप में पत्नी के प्रति इस कु-कर्म से दुःखित रामचन्द्र अपनी तुलना एक कसाई से करते हुए स्वयं को दोषी ठहराते हैं। पुनः अपनी तुलना एक विष-द्रुम से करते हुए स्वयं को चाण्डाल के रूप में वर्णित करते हैं—

अपूर्वकर्मचाण्डालमपि मुग्धे विमुंच माम्।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम्॥ (1.46)

न केवल आत्मनिन्दा या पश्चात्ताप से वह अपना दुःख लाघव करते हैं बल्कि इस मानसिक तनाव के सामने वह पूरी तरह झुक जाते हैं—

दुःखसवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्।
मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि॥ (1.47)

वह सोचते हैं कि उनका जन्म सिर्फ दुःख उपभोग करने के लिये ही हुआ है, क्योंकि सीता का वियोग उनके हृदय प्रदेश में एक सतत तथा असहनीय अकेलापन उत्पन्न करता है। राम के कथन से व्यक्त यह मानसिक तनाव उनकी तीव्र मनोव्यथा सूचित करते हुए एक करुण वातावरण की सृष्टि करता है। यहाँ पर भवभूति ने करुण रस को भली-भाँति विकसित करने की चेष्टा की है। इस दुःखद स्थिति का अनुभव न सिर्फ रामचन्द्र बल्कि समस्त सहृदय करते हैं, खास तौर से निरपराध सीता को रामचन्द्र की भुजा का आश्रय लेकर सोती हुई देखकर, जो कि इस आसन्न विपत्ति से अनभिज्ञ है।

रामचन्द्र करुणा के साक्षात् स्वरूप बन जाते हैं। शक्तिशाली राजा होते हुए भी वे निस्सहाय तथा विक्षिप्त हो जाते हैं और अपनी प्रियतमा की रक्षा के लिये माँ धरती से प्रार्थना करते हैं। यहाँ पर भवभूति ने एक आदर्श पति तथा एक आदर्श राजा के रूप में रामचन्द्र का चित्रण करते हुए इस द्वैध भूमिका में संघर्ष की स्थिति को स्पष्ट किया है। दूसरे तथा तीसरे अंकों में भी राम का यह मानसिक संघर्ष बढ़ता जाता है। इस मानसिक तनाव से सीता भी अछूती नहीं रहती। राम के अनुचित व्यवहार के कारण वह अत्यंत दुःखी तो रहती है, पर अन्य क्षणों में अपने प्रति राम के अकृत्रिम अनुराग का भी वह स्मरण करती रहती है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि दोनों को उत्कट अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना पड़े। इस आन्तरिक संघर्ष में जी कर भी राम अपने कर्त्तव्य के प्रति पूरी तरह सजग रहते हैं, जिसके कारण शम्बूक को मारने के लिये वे दण्डकारण्य जाते हैं। इस तरह आन्तरिक संघर्ष के बीच भवभूति बाह्य संघर्ष का सूत्रपात करते हैं। शम्बूक को खोजते समय दण्डकारण्य की पुरानी यादें रामचन्द्र के आन्तरिक संघर्ष के विकास में सहायक बनती हैं।

जो मानसिक तनाव प्रथम अंक में राजा बनाम पति के रूप में मुकुलित हुआ था वह पुनः बारह वर्षों के बाद पुष्पित होता है। राम की हर उक्ति में मानसिक तनाव का स्पष्ट चित्र दिखाई देता है—

चिरोद्वेगारम्भो प्रसृत इव तीव्रो विषरसः।
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः॥
व्रणो रूढ़ग्रन्थिः स्फुरित इव हृन्मर्मर्पण पुन—।
र्घनीभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव॥ (2. 26)

तृतीय अंक में तमसा के मुख से यह सुन कर कि सीता जीवित है तथा उसने दो जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया है, राम का मानसिक तनाव चरम सीमा तक पहुँच जाता है। राम के अन्तर्द्वन्द्व के कारण करुण रस जिस तरह विकसित हुआ है, उसका एक सटीक चित्र तमसा की उक्ति से भी सामने आता है—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणोरसः॥ (3.1)

राम की तरह सीता के हृदय में भी आन्तरिक द्वन्द्व बढ़ता है। उसका मन संघर्ष से टूटने लगता है जब राम की विरहजनित मनोव्यथा को वह हृदयंगम करती है, तब उसका अपना मानसिक तनाव द्विगुणित होता है। जैसा कि उसकी उक्ति से स्पष्ट है—

निष्कारणपरित्यागिनोऽप्येतस्यैवंविधेन दर्शनेन कीदृशी मे हृदयावस्था।

अगर देखा जाय तो पूरे तृतीय अंक में राम तथा सीता की ऐसी कोई उक्ति नहीं है, जिसमें उनकी अपनी मनोव्यथा प्रतिबिम्बित न हुई हो। चौथे अंक में लव यज्ञीय अश्व को पकड़ना चाहता है और वहीं से शुरू होता है बाह्य संघर्ष का रूप। पंचम अंक में लव और चन्द्रकेतु के बीच घोड़े को लेकर वाचिक संघर्ष शुरू होता है और छठें अंक में असली संघर्ष का वर्णन विद्याधरों के द्वारा किया जाता है। राम तथा सीता की अनुपस्थिति कुछ समय तक आन्तरिक संघर्ष को भुला देती है तथा बाह्य संघर्ष के विकास में सहारा बनती है। पर छठें अंक के अंत में राम की उपस्थिति से दबा हुआ आन्तरिक संघर्ष फिर प्रस्फुटित होता है। लव को देख कर उनके मन में आन्तरिक संघर्ष का मुकुल खिल उठता है, क्योंकि सीता तथा अपना हर गुण उस बालक में झलकता पाते हैं। यहाँ पर एक पुत्र-हीन पिता के आन्तरिक संघर्ष या मनोव्यथा का सही चित्रण भवभूति ने करुण रस के माध्यम से करने की चेष्टा की है। प्रस्तुत नाटक में गर्भाङ्क की कल्पना भी राम की मनोव्यथा की ओर संकेत करती है, क्योंकि इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव रामचन्द्र के ऊपर इतनी गहरी छाप छोड़ता है कि वे मूर्छित हो जाते हैं। सीता का दुःख उनके लिये असहनीय

है। इस तरह अगर देखा जाय, तो प्रस्तुत नाटक आन्तरिक संघर्ष का एक जीता-जागता चित्र है।

भवभूति का दूसरा नाटक महावीरचरित भी बाह्य संघर्ष का एक नमूना है। वीर रस प्रधान होने के कारण यह नाटक अपने आप ही बाह्य संघर्ष का एक जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है। अनादि काल से आर्य और अनार्यों के बीच चलता आ रहा संघर्ष ही नाटक की नींव है। इस संघर्ष से नाटक का अंगी रस वीर विकसित होता है। पहले अंक में एक राक्षस रावण के लिये सीता का हाथ माँगकर संघर्ष का बीज बोता है। यह बीज रामचन्द्र के शिवधनुभँग से अंकुरित होकर धीरे-धीरे पल्लवित होता है। प्रस्तुत नाटक में बाह्य संघर्ष का तत्व इतना मजबूत है कि भवभूति ने तीसरे अंक में विश्वामित्र, वशिष्ठ, शतानन्द, जनक जैसे अत्यन्त प्रतिष्ठित तथा सम्मानित मनीषियों को भी परशुराम के साथ तू-तू, मैं-मैं करते हुए दिखाया है। बालि, परशुराम, रावण आदि के साथ रामचन्द्र का युद्ध बाह्य संघर्ष का असली रूप है। कुछ क्षण के लिये आन्तरिक संघर्ष की स्थिति परशुराम तथा दशरथ के साथ भी देखी जा सकती है।

मालतीमाधव में भी संघर्ष के दोनों पक्ष पल्लवित हुए। शुरू में 'भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः.........'लिखकर भवभूति ने प्रस्तुत नाटक में संघर्ष की स्थिति को स्पष्ट किया है। चूँकि भिन्न-भिन्न परिवेश, घटना तथा चरित्र के माध्यम से रस की विविधता अनुभूत होती है, अतः स्पष्ट है कि यह प्रकरण भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों के बीच संघर्ष, भिड़ंत तथा लड़ाई की ओर ले जाता है। वैसे तो मालती तथा माधव के कुसुमित पथ पर नन्दन का टाँग अड़ाना पूरे प्रकरण में संघर्ष की कली बन कर धीरे-धीरे पुष्पित होता हुआ अघोरघण्ट, कपालकुण्डला तथा राजपुरुषों के साथ माधव की लड़ाई के रूप में बाह्य संघर्ष का रूप प्रस्तुत करता ही है, इसके साथ-साथ आन्तरिक संघर्ष का रूप भी स्पष्ट झलकता है। अपने पिता के वैवाहिक निर्णय पर मालती खिन्न होती है और माधव के अनुराग का स्मरण करती है। माधव भी मालती को प्राप्त करने के लिये महा मांस लेकर श्मशान-साधना का विचार करता है। अतः स्वाभाविक है, दोनों ही उस समय आन्तरिक संघर्ष या मानसिक तनाव के बीच जी रहे होंगे।

संक्षेप म कह सकते हैं कि भवभूति ने जहाँ करुण रस के माध्यम से संघर्ष के आन्तरिक पक्ष को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है, वहीं वीर रस के माध्यम से बाह्य पक्ष को भी अछूता नहीं रखा।

पश्चिमी परम्परा की कसौटी पर परखने से भवभूति एक सफल नाट्यकार के रूप में उभर कर सामने आते हैं। खास तौर से ग्रीक त्रासदी में संघर्ष का रूप मानव बनाम भाग्य के बीच संघटित होता है। जैसे "ईदिपस रक्स" में किसी भविष्यवक्ता

से यह पता लगने पर कि वह अपने पिता को मार कर अपनी माँ से शादी करने वाला है, ईडीपस पूरे नाटक में अपने भाग्य से जूझता रहता है, पर अंत में "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्" इस न्याय को वह झूठा नहीं बना पाता और अन्त में आत्महत्या का शिकार हो जाता है। न सिर्फ Sophocles बल्कि Aeschylus, Euripides आदि सभी ग्रीक नाट्यकार इसी स्थिति को बरकरार रखते हैं। दूसरी ओर शेक्सपीयर ग्रीक नाट्य परंपरा को छोड़ कर भारतीय परंपरा को पकड़ने की चेष्टा करते हैं। उनके नाटकों में संघर्ष की स्थिति मानव बनाम मानव या मानव बनाम समाज दृष्टिगोचर होती है। जैसे कि लेडी मैकबेथ—डंकन, हैमलेट—क्लडीअस, ओथेलो–डेस्डेमोना, इआगो–सेडेरिगो के बीच संघर्ष उभरता है। संघर्ष के इस बाह्य पक्ष के अलावा आन्तरिक पक्ष भी शेक्सपियर के नाटकों में झलकता है। हैमलेट तो मानसिक तनाव में ही जीता है, और संघर्ष की दृष्टि से शेक्सपियर के नाटकों में से हैमलेट ही शीर्ष स्थान पर पहुँचता है। मानसिक तनाव का मूल मंत्र to be या not to be हैमलेट का सूत्र बन कर एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में गिना जाता है। जो त्रासिक प्रवाह (tragic flow) निरन्तर उमड़ता है, वह हैमलेट के चरित्र में भी स्पष्ट झलकता है। फिर भी शेक्सपियर को भवभूति की तरह सफलता नहीं मिलती, क्योंकि अंत में ग्रीक त्रासदी की तरह हैमलेट तथा क्लडीअस दोनों ही मरते हैं। अपनी गल्ती को सुधार कर मानसिक तनाव से बचने का मौका उन्हें नहीं मिलता है। हैमलेट में भी गर्भ नाटक की स्थिति उत्तररामचरित की तरह मानसिक तनाव को बढ़ावा देती है। पर जहाँ उत्तररामचरित में भवभूति संघर्ष के माध्यम से पात्रों को कुछ सीखने का मौका देते हैं, वहाँ शेक्सपियर के नाटकों में पात्रों को सीखने के लिये वक्त नहीं मिलता है। यह अन्तर दोनों परंपराओं में इसलिये दिखाई देता है कि दोनों परंपराओं के कवियों के जीवन दर्शन में भी अंतर है। पश्चिम में मानव का जन्म ही त्रासदी में होता है और त्रासदी में पल कर त्रासदी में ही मरता है। पर, भारत में यह परंपरा शायद ही कहीं दृष्टिगोचर होती है। अगर कहीं है तो बदलाव की स्थिति भी आ सकती है, जो कि भारतीय काव्य परंपरा में स्पष्ट दिखाई देती है। अतः संघर्ष नामक नाट्य तत्व को लेकर भवभूति जहाँ सफल हुए हैं वहाँ योरोपीय नाट्यकारों की असफलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

भवभूति के समीक्षक तथा दर्शक

डॉ० कुसुम भूरिया

महाकवि भवभूति संस्कृत-साहित्य के जाज्वल्यमान् हीरक हैं। उनके रूपकत्रय को संस्कृत के नाट्य-साहित्य में पर्याप्त समादर प्राप्त है। तीनों नाट्य-कृतियों को भगवान् कालप्रियनाथ की यात्रा के अवसर पर अभिनीत किया गया था—इसका प्रमाण हमें महाकवि की उन कृतियों की प्रस्तावना में स्पष्टतः उपलब्ध होता है।

महाकवि भवभूति निःसन्देह वैदुष्य तथा पाण्डित्य-प्रतिभासम्पन्न श्रेष्ठ कवि हैं, किन्तु क्या वे एक सफल नाट्यकार भी हैं? अर्थात् क्या उनकी ये कृतियाँ अपने दर्शकों को अभिभूत कर सकी हैं या दर्शक उनसे पर्याप्त मात्रा में रस या आनन्द की प्राप्ति कर सकने में समर्थ हुए हैं आदि प्रश्नों के समाधानार्थ पहले कुछ विद्वान् समीक्षकों के एतद्विषयक वक्तव्यों का उल्लेख कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

गद्यांशों में दीर्घ-समासों की बहुलता के कारण विण्टरनित्स का मत है कि भवभूति के नाटक पठन की दृष्टि से लिखे गए होंगे, अभिनय के लिए नहीं। (Winternitz : The History and Culture of the Indian People, III P. 308)

मेकडानल का कथन है कि उत्तररामचरित में अनेक सुन्दर गद्यांश हैं, तथापि कार्याभाव के कारण यह नाटक की अपेक्षा नाटकीय काव्य अधिक है। (A. A. Macdonnel : A History of Sanskrit Literature, P. 366)

उत्तररामचरित के सम्बन्ध में डॉ० भाण्डारकर का मत है कि इसमें घटनाएँ बहुत कम है, कार्यव्यापार की गति सर्वथा मन्द है; परन्तु द्वितीय अङ्क में जनस्थान

के वनों का वर्णन और तृतीय अङ्क में सीता और राम की वेदना का चित्रण अद्वितीय है। उत्तररामचरित रङ्गमंच की अपेक्षा कक्ष के अधिक उपयुक्त है। वह दृश्य-काव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य अधिक है। (Dr. R. G. Bhandarkar : Maltimadhava, Introduction, P. 13)

एस० के० डे भवभूति को एक महान् कवि मानते हुए भी यह कहते हैं कि एक नाटककार के रूप में उनमें सामर्थ्य का अभाव नहीं है, फिर भी वे कालिदास अथवा शूद्रक और विशाखदत्त के समान सफल नहीं हो सके। अतिशय वर्णन की प्रवृत्ति, प्रभावोत्पत्ति के लिए कष्टसाध्य प्रयत्न, भावाभिव्यक्ति का अतिविस्तार आदि ऐसे दोष हैं, जो एक अच्छे नाटककार के लिए घातक हैं। वे अपने पात्रों में तथा उनकी भावनाओं में इतने अधिक लीन हो जाते हैं कि कार्य-व्यापार की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। आख्यायिका में घटना का वर्णन होता है और नाटक में उसका वास्तविक प्रदर्शन। भवभूति के नाटकों में दिखाया कम और कहा अधिक जाता है। (S. N. Dasgupta and S. K. De : A History of Sanskrit Literature—(Classical period) PP. 295-297)

भाषा पर भवभूति के असाधारण अधिकार को स्वीकार करते हुए डॉ० कीथ कहते हैं कि उनके नाटकों में सामान्यतः गद्य का स्वच्छन्द और सहज प्रवाह है, परन्तु हास्यास्पद रूप से लम्बे समास उस प्रवाह को अवरुद्ध कर देते हैं। उनकी समस्त पदावली उस युग के सामाजिकों के लिए भी उतनी ही दुर्बोध्य रही होगी, जितनी आधुनिक पाठक के लिए। उसे समझने के लिए अवधानपूर्वक अध्ययन अपेक्षित है। (डॉ० कीथ : संस्कृत ड्रामा, (हिन्दी अनुवाद), पृ० 202-209)

डॉ० भोलाशंकर व्यास कहते हैं कि भवभूति की कृतियों में नाटकीय व्यापार की कमी का कारण उनकी अत्यधिक भावुकता है। यही कारण है कि उत्तररामचरित गीतिनाट्य की दृष्टि से विशेष सफल माना जा सकता है, कोरे नाट्य की दृष्टि से नहीं। (डॉ० भोलाशंकर व्यास : संस्कृत-कवि-दर्शन, पृ० 393)

डॉ० बेनी प्रसाद के अनुसार उत्तररामचरित में सीता-निर्वासन की कथा बड़ी करुणा से कही गई है। चरित्र-चित्रण में ही नहीं, प्रकृति के वर्णन में भी भवभूति ने बड़ा चमत्कार दिखाया है; पर बहुत से श्लोक बड़े क्लिष्ट हैं, समास बहुत लम्बे हैं, नाटक मंच की अपेक्षा पाठशाला के अधिक योग्य है। (डॉ० बेनी प्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० 475)

तारिणीश झा भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि भवभूति नाटककार की अपेक्षा कवि अधिक हैं। अपने मत की पुष्टि में वे कहते हैं कि कलात्मकता और घटना-वैचित्र्य से दूर हटकर भवभूति ने जो भावप्रवणता को ही अपने नाटकों

में अधिक प्रश्रय दिया है उसके कारण, और करुण रस के प्रति निष्ठा, मालतीमाधव में रङ्गमंच पर व्याघ्र के दर्शन तथा मांस-विक्रय द्वारा नाटकीय विधान का उल्लंघन एवं प्रकृति के भाव-विभोर कर देने वाले सूक्ष्म-दर्शी विस्तृत वर्णन आदि कारणों से भी वे नाट्य-स्रष्टा की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं और महाकवि हैं। (तारिणीश झा : उत्तररामचरित, भूमिका, पृ० 90-99)

उपर्युक्त मतों के विपरीत—

महामहोपाध्याय काणे के शब्दों में संस्कृत के नाटककारों तथा कवियों के नक्षत्र-मण्डल में भवभूति सर्वाधिक देदीप्यमान नक्षत्रों में से एक हैं। (P. V. Kane : Uttararamacharita, Introduction, P. 1)

आचार्य बलदेव उपाध्याय की भी धारणा है कि भवभूति के जोड़ का नाटककार कालिदास को छोड़कर संस्कृत-साहित्य में दूसरा कोई नहीं हुआ और उत्तररामचरित संस्कृत-साहित्य की ही नहीं, प्रत्युत विश्व-नाटक-साहित्य की एक दिव्य विभूति है। (आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-वाङ्मय, पृ० 69)

वाचस्पति गैरोला का मत है कि भवभूति ने उत्तररामचरित की कथावस्तु को अपनी मौलिक कल्पना द्वारा विशेष प्रभावशाली बना दिया है। चित्रदर्शन, राम का दण्डकारण्य में पुनरागमन तथा वासन्ती से मिलाप, छाया-सीता की उदात्त कल्पना, सातवें अङ्क का गर्भाङ्क—ये सभी भवभूति की मौलिक देन है और इन्हीं विशिष्ट प्रसंगों से भवभूति की कथावस्तु प्रभावोत्पादक हुई है। इसमें यद्यपि नाटकीय व्यापारों की कमी है, फिर भी पूर्व के दो नाटकों की अपेक्षा इसमें तकनीकी और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रौढ़ता है। (वाचस्पति गैरोला : संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 626)।

शारदारञ्जन राय के अनुसार भवभूति संस्कृत के सर्वाधिक लोकप्रिय नाटककारों में से एक हैं तथा विद्वान् समालोचकों द्वारा उत्तररामचरित की गणना संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट नाटकों में की जाती है। (शारदारञ्जन राय : उत्तररामचरित, भूमिका, पृ० 1-2)।

मालतीमाधव के 'अरोचक' होने पर भी राहुल सांकृत्यायन को उत्तररामचरित के कारण भवभूति का लोहा मानने के लिए बाध्य होना पड़ा—"भवभूति का मालतीमाधव अरोचक नाटक का एक अच्छा उदाहरण है, यद्यपि उसके कितने ही स्थल सुन्दर भी हैं। महावीरचरित में महावीर राम के चरित को नाटक का रूप दिया गया है। उनकी सबसे सुन्दर कृति उत्तररामचरित है, जिसे संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों में रखा जा सकता है और इसी से भवभूति का लोहा मानने के लिए हम मजबूर हैं।" (राहुल सांकृत्यायन : संस्कृत-काव्यधारा, पृ० 736)।

डॉ० रामजी उपाध्याय भवभूति के दोषों का परिहार करते हुए कहते हैं कि नाट्यकला की दृष्टि से उत्तररामचरित विशेष सफल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कार्य-व्यापार की कमी है और संवादात्मक वर्णनों की भरमार है—यह कथन योरोपीय आलोचना की दृष्टि से भले ही सत्य हो, क्योंकि योरोपीय आलोचना केवल कर्मेन्द्रियों के कार्यकलाप को ही नाट्य-क्रियाओं के लिए द्रष्टव्य मानती है। भारतीय आलोचना मानसी वृत्तियों और अनुभूतियों को भी नाट्य-क्रियाओं के महत्त्वपूर्ण वर्ण्य-विषय मानती है। यदि भवभूति रामचरित के इस अङ्ग को नहीं अपनाते, तो उनकी विशेषता का कोई अन्य आधार असम्भव ही होता। (डॉ० रामजी उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, (नाट्य साहित्य) पृ० 144–145)

इस प्रकार विद्वानों ने भवभूति की रचनाओं के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं।

यह सत्य है कि 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' महाकवि भवभूति प्रकृति-चित्रण, मानव-मन के सूक्ष्म भावों तथा अन्तस् के प्रणय के चित्रण में अद्वितीय हैं, परन्तु चूँकि उन्होंने नाट्यकृतियों का सृजन किया है, अतः उनके नाटककार के रूप की उपलब्धि का समग्र आकलन दर्शक-वृन्द ही कर सकता है। 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते' महाकवि कालिदास की इस उक्ति के आधार पर दर्शक ही नाट्य की कसौटी हैं—ऐसा भी कहा जा सकता है।

नाटक सार्ववर्णिक होता है तथा उसमें भिन्न-भिन्न रुचि वालों का एकत्र समाराधन होता है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।' ऐसा नाटक, जिसे देखकर तन्मय दर्शक हास्य के विविध प्रसङ्गों पर स्मित आदि का, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्यों के अभिनय पर 'साधु-साधु' का या करुण रस के प्रदर्शन पर 'कष्ट-कष्ट' आदि का तथा अन्यान्य प्रसंगों पर तदनुकूल वचनों का अचानक उच्चारण कर उठे और नाट्य-प्रदर्शन के पश्चात् (नाट्य-शास्त्र के शब्दों में) चेलांगुलीदान करे अर्थात् अभिनेता को अपने बहुमूल्य आभूषणादि प्रदान करे या अंगुली उठा-उठाकर उसकी ओर निर्देश करते हुए अपने परितोष को अभिव्यक्त करे, तो वह नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की वाङ्मयी तथा शारीरी सिद्धि अर्थात् मानुषी सिद्धि कहलाती है, जिसे भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के 27वें अध्याय में वर्णित किया है। यहीं पर वे आगे कहते हैं कि मानुषी सिद्धि से भी श्रेष्ठ दैवी सिद्धि होती है, जिसमें सत्त्व की अधिकता से प्रेक्षकों के मध्य भावयुक्त स्तब्धता छा जाती है। न किसी प्रकार का शब्द होता है, न क्षोभ, न उत्पात—

"सा सत्त्वातिशया ज्ञेया भावयुक्ता तथैव च।
नाट्ये संप्रेक्षकैर्ज्ञेया नित्यं सिद्धिस्तु दैविकी॥

न शब्दो नैव च क्षोभो न चोत्पात निदर्शनम् ।
सम्पूर्णता च रङ्गस्य सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता ॥"

(ना० शा० 27/16–17)

नाटक को उपर्युक्त सिद्धियों की उपलब्धि दर्शकों या नाट्य-शास्त्र के अनुसार कहें तो प्रेक्षकों के बिना सम्भव नहीं है। आचार्य भरत ने जहाँ नाटककार तथा अभिनेता आदि के सम्बन्ध में कहा है, वहीं प्रेक्षकों में भी कुछ गुणों की अपेक्षा उन्होंने की है। वे अच्छी तरह जानते थे कि नाटक सर्वशास्त्र, विद्या, कला आदि को अपने में समेटे रहता है, अतः उसका भली-भाँति रसास्वादन करने वालों में भी कुछ गुणों का होना अनिवार्य है और इसीलिए वे ऐसे व्यक्तियों को प्रेक्षक—श्रेष्ठ ईक्षक के नाम से अभिहित करते हैं, दर्शक के नाम से नहीं। उनका मत है कि प्रेक्षक ही नाटक के मर्म तक पहुँच सकता है, जिसकी सामर्थ्य एक दर्शक में नहीं होती। नाट्यशास्त्र के 27वें अध्याय में भरतमुनि ने प्रेक्षकों के अपेक्षित गुणों को इस प्रकार गिनाया है—

"अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोहविशारदः ।
व्यक्ता (क्त ?) दोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ॥
यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च ।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकःस्मृतः ॥"

(ना० शा० 27/51–52)।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रेक्षक का सर्वोपरि गुण उसका सहृदय होना है। उसके लिए मानवीय भावों की अनुभूति की भावमय स्थिति के प्रति सह-अनुभूति अनिवार्य है। इसके बिना वह नाटक का सम्यक् प्रेक्षक नहीं बन सकता।

इस विवेचन के पश्चात् यह जान लेना भी आवश्यक है कि भवभूति के रूपकों का अभिनय प्रेक्षकों के समक्ष किया गया था या दर्शकों के। रूपकों की प्रस्तावना से विदित होता है कि इनका अभिनय भगवान् कालप्रियनाथ की यात्रा के अवसर पर एकत्र हुए जन-समुदाय के समक्ष हुआ था। किसी भी उत्सव, मेले आदि में बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, पण्डित मूर्ख आदि सभी वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं—यह बात आज के प्रसङ्ग में भी सत्य है। भवभूति के समय भी उस उत्सव में सभी वर्ग सम्मिलित हुए होंगे तथा उनके रूपकों का अभिनय दर्शकों के समक्ष ही किया गया होगा, प्रेक्षकों के समक्ष नहीं। उसमें प्रेक्षक भी अवश्य रहे होंगे इसमें दो मत नहीं, किन्तु जब लम्बी-लम्बी समास-युक्त पदावली के साथ वैकन्तक, शुण्डार, डम्बर, घस्मर, प्रचलाकिन्, कडार, विघस आदि दुरूह शब्दों का प्रयोग किया गया होगा, तो भले ही भवभूति के बृहत् शब्द भण्डार तथा पाण्डित्य का प्रदर्शन हुआ होगा, किन्तु एक बार प्रेक्षक भी उसे तुरन्त समझ पाने में असमर्थ हो गया होगा। इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन महोदय कहते

हैं—"मुझे विश्वास नहीं होता कि भारत में भी कभी कोई ऐसा पण्डित हुआ होगा, जो बिना पूर्व अध्ययन के भवभूति के दुरूह अंशों को पहली बार में ही समझ गया होगा।" (M. R. Kale : Maltimadhava, Introduction, P. 30)।

सच भी है किसी भी नाटक की अभिनेयता के लिए वाचिक अभिनय की दृष्टि से उसकी भाषा का सरल एवं बोधगम्य होना आवश्यक है। इस नियम के आधार पर परीक्षण करने पर भवभूति की भाषा खरी नहीं उतरती।

नाटक एक ऐसी कला है, जिससे दर्शक को तत्काल ही रसानुभूति हो सके तो उसे सफल कहा जा सकता है; परन्तु भवभूति के रूपकों में एक ही वर्णन अपने विशेषणों के साथ ऐसा दूर तक चलता है (उदाहरणार्थ महावीरचरित के सप्तम अङ्क में लङ्का से अयोध्या तक की यात्रा का वर्णन, मालतीमाधव में तृतीय अङ्क में शार्दूल-वर्णन आदि) कि रस की इस सद्यःअनुभूति में वह वर्णन विघ्न बन जाता है और दर्शक को उससे मनोरंजन न प्राप्त होकर ऊब की प्राप्ति होती है। यही स्थिति संवादों की भी है। इसमें सन्देह नहीं कि भवभूति के संवादों में कहीं-कहीं बहुत सरलता तथा स्पष्टता है, किन्तु कहीं-कहीं उनकी विकटबन्धता शैली के कारण एक ओर तो अभिनेता (पात्र) को कठिनाई का अनुभव होता है, वहीं दूसरी ओर उन संवादों में सौन्दर्य तथा तारतम्य उत्पन्न नहीं हो पाता है, (उदाहरणस्वरूप मालतीमाधव के प्रथम अङ्क में माधव, तृतीय अङ्क में लवङ्गिका, पञ्चम अङ्क में कपालकुण्डला और माधव आदि के भाषण) जिससे दर्शकों को बाँधे रखने में वे पूर्णतः सफल नहीं हो पाए होंगे तथा नाटक की समाप्ति पर प्रसन्नता का अनुभव न करने वाले दर्शकों की कटु आलोचना के पात्र भी बन गए होंगे।

भवभूति के मालतीमाधव में कुछ उत्तेजक घटनाओं की भयङ्करता तथा बीभत्सता के दृश्य कुछ अधिक समय तक दर्शकों को सुनने या देखने पड़ते हैं, जिससे दर्शकों की नाटक देखने की उत्सुकता कम हो जाती है। तृतीय अङ्क में पिंजड़ा तोड़-कर सिंह का बाहर आ जाना, अनेक मनुष्य, बैल, घोड़ों आदि को मार देना आदि। पञ्चम अङ्क में अघोरघण्ट और कपालकुण्डला द्वारा देवी को मालती की बलि चढ़ाए जाते समय माधव द्वारा अघोरघण्ट का वध तथा मालती की प्राप्ति न होने पर माधव द्वारा मांस-विक्रय का दृश्य आदि बातें दर्शकों को बहुत प्रसन्न नहीं कर पातीं।

अभिनेय पात्र की दृष्टि से भी स्वाभाविकता का किंचित् अभाव कहीं-कहीं भवभूति के रूपकों में देख पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, उत्तररामचरित में चित्रदर्शन के प्रसङ्ग में प्राकृत की लम्बी शब्दावली में राम के चित्र का वर्णन सीता ने किया (अम्महे दलन्तणवणीलुप्पलसामल······आलिहिदो।) सीता से ऐसा वैदुष्यपूर्ण वर्णन करवाना दर्शक को कहाँ तक स्वाभाविकतापूर्ण लगता है, कहा नहीं जा सकता; पर

लोक में जब कभी कोई व्यक्ति अपने अननुरूप भाषा का प्रयोग करता है, तो कुछ अनुचित-सा लगता है, खटकता है। कहना न होगा कि नाटक भी लोकानुकरण है।

भवभूति के रूपकों का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि अपने समय में प्रचलित 'ओज:समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्' को अपनी कृतियों का प्राण भवभूति भी बनाना चाहते थे, किन्तु ऐसा करते समय वे सम्भवत: यह भूल गए कि कोई भी नाट्यकृति इस शैली में सफल नहीं हो सकती। कथावस्तु का निर्माण चाहे कितना ही सुन्दर तथा सुगठित क्यों न हो, यदि उसका सुन्दर तथा आकर्षक अभिनय दर्शकों को बाँध न सके, तो वह दर्शकों की दृष्टि से असफल ही कहा जाएगा। जो नाटक जितनी मात्रा में 'बुधविश्राम सकलजनरञ्जन' के असम्भव से लगने वाले लक्ष्य को सिद्ध कर सकेगा, वह उतनी ही मात्रा में सम्मान्य और लोकप्रिय हो सकेगा।

कहा जाता है कि भवभूति का उत्तररामचरित उनकी अन्य दो कृतियों की अपेक्षा अधिक सरल अधिक सुबोध है; पर जिसके भावतल का स्पर्श करने में वीरराघव जैसे विद्वान् अध्येता को भी अथक प्रयास करना पड़ा हो, उस कवि के मर्म को एक दर्शक मात्र दो-ढाई घण्टों में कैसे समझ सकता है ?

———

खंड : तीन

विश्व-नाट्य और भवभूति

त्रासदी की भारतीय अवधारणा और भवभूति के नाटक

राधावल्लभ त्रिपाठी

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य अरस्तू ने त्रासदी और महाकाव्य को काव्यविधाओं में सर्वोच्च स्थान दिया था। कॉमेडी या सुखांत नाटक को उसने गंभीरता से नहीं लिया। उसका कहना था कि त्रासदी उत्कृष्ट मानव के चरित्र का अनुकरण करती है, जबकि कॉमेडी निकृष्ट लोगों का।[1] अरस्तू की दृष्टि में त्रासदी हमारे भीतर करुणा और आतंक के भावों को उद्बुद्ध करके चित्त के विकारों का विरेचन कर देती है। विकारों के उद्रेक की उत्कटता और उनके शमन में परिणति में त्रासदी की श्रेष्ठता निहित है। अरस्तू की त्रासदी के नायक की अवधारणा अंशतः नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा में धीरोदात्त नायक की अवधारणा को स्पर्श करती है। कम से कम महासत्व, उच्चकुल, गाम्भीर्य तथा संपत्ति और कीर्तिमत्ता आदि लक्षण धीरोदात्त नायक तथा त्रासद नायक पर समानतया लागू होते हैं।[2]

अतएव नाट्यशास्त्रीय शब्दावली में त्रासदी को परिभाषित करना हो, तो कह सकते हैं कि करुणरसप्रधान नाटक त्रासदी है। अरस्तू ने त्रासदी या करुणरसप्रधान नाटक को इतनी अहमियत दी, तो सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या नाट्यसाहित्य की इतनी संपन्न विरासत और नाट्यशास्त्रीय लक्षण चिंतन की सुदीर्घ परम्परा के रहते हमारे यहाँ करुणरसप्रधान नाटकों की परिकल्पना नहीं थी ? भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा तो इस प्रश्न का तत्काल सीधा और सकारात्मक उत्तर प्रस्तुत करती है। करुणरसप्रधान नाटक की अवधारणा तो इस परम्परा में थी ही, रूपकों के भेदों में ऐसे नाट्यप्रकार का समावेश करके उसे विधिवत् परिभाषित भी किया गया था। रूपक के दस प्रमुख भेदों में ही सदैव "अङ्क" या "उत्सृष्टिकाङ्क" की गणना की

जाती रही है। भरत के प्रमुख भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त बताते हैं कि इस रूपक प्रकार की "उत्सृष्टिकाङ्क" संज्ञा इसीलिये पड़ी कि इसमें (अपने स्नेही बाँधवों की मृत्यु पर) विलाप करती स्त्रियों के प्राण दुःखावेग से निकल पड़ने को होते हैं (उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितंप्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति—ना० शा० 18. 93-97 पर अ. भा.)। उत्सृष्टिकाङ्क में वाग्व्यापारप्रधान भारती वृत्ति का प्रयोग अधिक रहता है, शेष तीन वृत्तियों (सात्वती, आरभटी और कैशिकी) का कम। उसकी ये विशेषताएं इस रूपकप्रकार को ग्रीकत्रासदी के बहुत निकट ला देती हैं। संस्कृत नाट्य-परम्परा में उत्सृष्टिकांक का कदाचित् एकमात्र उदाहरण भास का 'ऊरुभंग' है। मृत्यु शैया पर पड़ा हुआ, जंघाएँ टूट जाने से अपने नन्हें बेटे को गोद में उठाने, या सामने अपने माता-पिता के सम्मुख उठकर अभिवादन करने में असमर्थ उरुभंग का नायक अपनी गरिमा, उदात्तता, कुलीनता, अपनी भूलों पर पश्चाताप, अश्वत्थामा और बलराम को बदला लेने से रोकने के कारण प्रकट अपनी उदारता में ग्रीक त्रासदी के ही नहीं, विश्वनाट्य साहित्य की सर्वोत्कृष्ट त्रासदियों के नायकों के समकक्ष आ बैठता है। भय, आतंक क्षोभ, दुःख आदि का उद्रेक इस रूपक में त्रासदी के अनुरूप ही हुआ है।

अब यह पूछा जा सकता है कि समग्र भारतीय परंरपरा रस के अनुभव को परम साध्य के रूप में नाटक के केंद्र में रखती है और रसानुभूति आनंदरूप मानी गयी है, तब दुर्योधन की मृत्यु के साथ समाप्त होने वाले ग्लानि, विषाद, शंका और भय का परम क्षोभकारक अनुभव देने वाले उरुभंग जैसे रूपक या उत्सृष्टिकांक जैसे रूपक प्रकार से आनंद का अनुभव कैसे होगा—और यदि आनंद का अनुभव इससे नहीं होता तो, क्या यह रूपक-प्रकार अभारतीय माना जायेगा—और क्या इसी कारण संस्कृत नाट्य परंपरा में उत्सृष्टिकांक के उदाहरण दुर्लभ हैं?

प्रथम प्रश्न के समाधान में तो यह कहा जा सकता है कि रसानुभूति के संदर्भ में जिस आनंद की चर्चा की जाती है, उसे मात्र सुखात्मक नहीं कहा जा सकता। जिस औपनिषदिक चिंतन से आनंद की अवधारणा उतारी गयी है, वहाँ 'आनंद' जीवन के समग्र प्राप्य, समग्र उत्स तथा एक जटिल अविभाज्य संलिष्ट अनुभव को द्योतित करता है—जिसके लिये हम सब जी रहे हैं, खट रहे हैं और जिसमें हमारा आदि और अंत है।

निश्चय ही यह कोई सुख का अनुभव नहीं है। यदि आनंद जीवन के समस्त भाव का एक संपूर्ण अनुभव है, तो इसमें दुःखानुवेध अनिवार्यतया रहेगा। इसलिये रसानुभूति में दुःखांश निश्चय रूप से रहता है—यह तो रस पर विचार करने वाले आचार्य स्वीकार करके चलते हैं, उनमें संप्रदाय की दृष्टि से अंतर यही है कि कुछ

आचार्य रस में दु:ख के इस अनुभव को न्यग्भूत मानते हैं कुछ सुख के साथ सहकृत। इन आचार्यों की प्रतिपत्तियों और विप्रतिपत्तियों पर विस्तरशः विचार न करके यहाँ हम इतना अवश्य कहेंगे कि रस के अनुभव के विशाल वृत्त से दुखः का निषेध करना और उसे मात्र सुखोद्रेकमय मानना उसे अनुचित रूप से संकुचित करना तो है ही, 'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति' की जिस औपनिषदिक भूमि से वह आया है, उसे भी विकृत करना है।

उत्सृष्टिकांक की रूपक विधा में विपुल नाट्यसर्जना क्यों नहीं हुई—इस प्रश्न पर विचार करने का अवकाश यहाँ नहीं है, पर यह ध्यातव्य है कि यही एक रूपक-प्रकार नहीं है, जिसमें दु:खानुवेध आचार्य भरत मानते हों। डिम, ईहामृग, समवकार जैसे रूपक भेदों में भी दु:ख के अतिशय की बात भरत कहते हैं। इस दृष्टि से वे समग्र नाट्यपरंपरा को ही दो धाराओं में बाँट देते हैं—आविद्ध और सुकुमार। आविद्ध श्रेणी के रूपक—डिम, समवकार, व्यायोग, ईहामृग आदि आतंक, भय, त्रास और दु:ख के अनुभव को प्रमुखता देते हैं। सुकुमार श्रेणी के रूपक नाटक, प्रकरण आदि जीवन के लालित्य और श्रृंगार को। इसके साथ यह भी विशेषतः ध्यान देने की बात है कि भरत के सामने हमारे नाटक की जो मूल परंपरा थी, वह आविद्ध श्रेणी के रूपकों की थी। उन्होने स्वयं समुद्रमंथन समवकार और त्रिपुरदाह डिम के प्रयोग करा कर इसी परंपरा को गति दी। वृत्तिचतुष्टय में सुकुमारात्मिका कैशिकी वृत्ति के बाद में जोड़े जाने की जो सूचना नाट्यशास्त्र देता है, .उससे भी यही धारणा पुष्ट होती है। भरत इस तथ्य के प्रति सजग थे कि नाट्यानुभव एक जटिल तथा विविध भावों से संश्लिष्ट अनुभव है। पानकरसन्याय से परवर्ती आचार्यों की दृष्टि में इस अनुभव में किसी एक भाव की स्वतंत्रतया प्रतीति भले न होती हो, पर जब तक जीवन के संपूर्ण भावों का मिश्रीकृत रूप इस नाट्यानुभूति के पेय में न होगा, (भले ही वे शोक, अमर्ष आदि के कसैले, कड़वे भाव ही क्यों न हों,) कला का अनुभव परिपूर्णता में प्राप्त नहीं हो पायेगा। इस दृष्टि से भरत ने नाट्य के अनुभव को विविध भोज्य व्यंजनों से मिलने वाले हर तरह के स्वाद से तुलना करते हुए कहा है कि नाना व्यंजनों से जिस तरह आस्वादक विविध स्वाद पाते हैं, उसी तरह नाट्य से हर्ष, शोक आदि विविध भावों का अनुभव करते हैं। अतएव भरत की दृष्टि से रस के अनुभव से जनित स्थिति सुखदु:खात्मक होती है—

लौकिकी सुखदु:खाख्या यथावस्था रसोद्भवा॥ (ना० शा० 19.6)

नाट्य लोक की अवस्थाओं का अनुकरण है। ये अवस्थाएँ सुखदु:खरूप या सुखदु:खसमुद्भव होती हैं—यह भी भरत अनेक बार कह चुके है—

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा ।
नाना पुरुषसञ्चारा नाटकेऽसौ विधीयते ॥ (ना० शा० 19.142)

योऽयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः ।
सोऽङ् गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ (ना० शा० 19.144)

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभितयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ (ना० शा० 1/121)

आचार्य अभिनवगुप्त भी नाट्य में सुखदुःख का अनुगमन या अनुवेध स्वीकार करते हैं—

लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽअर्थो नाट्यम् ।
स च सुखदुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतिः ॥

(1/121 पर अभि० भा०)

इसके आगे अभिनव ने रति, हास, उत्साह आदि की सुखदुःखात्मकता, विस्मय की सुरूपता, क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा की दुःखस्वरूपता प्रतिपादित की है। रस और नाट्य की समुदाय रूपता की बात भी अभिनव ने जोर देकर कही है (वही 1)।

तब यह मानना पड़ता है कि आविद्ध रूपकों की और दुःखप्रधान रूपकों की भी एक परंपरा हमारे यहाँ थी। यह हो सकता है कि सामंतवादी संस्कृति की विकृतियों के हमारी नाट्यपरंपरा को जकड़ लेने—अन्तःपुर और राज सभा के चाकचिक्य में नाटक के भटक जाने से इस आविद्ध और करुणप्रधान नाट्यधारा को क्षति पहुँची हो या इसे समुचित सुरक्षा न मिल पायी हो। पर आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य वामन तो स्पष्टतया साक्ष्य देते हैं कि करुणरसप्रधान रूपकों की परपरा उनके समय विद्यमान थी और यही नहीं, इस परंपरा के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के कारण वामन यह भी बताते हैं कि रस का अनुभव एक संप्लवात्मक अनुभव है—उसमें सुख-दुःख का संप्लव रहता है—

स तु सम्प्लवस्तुत्वनुभवसिद्धः । तद्विदां
रत्नादिविशेषवत् । अत्र श्लोकः–
करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवौज. प्रसादयोः ॥ (कालं सूत्र 3 1–8–9)

अभिनव ने रस को सुखदुःखस्वभाव मानने वाले सांख्यमत का उल्लेख किया है (सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावोरसः—अभि० भा०, पृ० 267) रस को सुखदुःखात्मक मानने वालों में भोज तथा रामचंद्र-गुणचंद्र का उल्लेख सर्वप्रथम किया जा सकता है।

भोज ने कहा है—"रसाः सुखदुःखावस्थारूपा. ।" शृंप्र० भा० 2 पृ० 369। रामगुण ने भी रस का स्वरूप सुखदुःखात्मक माना है (नाद 3.7)। शृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भुत और शान्त—ये पाँच रस सुखात्मक हैं, शेष चार दुःखात्मक। सभी रसों को सुखात्मक मानना अनुभवसिद्ध नहीं है। भयानक बीभत्स करुण तथा रौद्र जैसे रसों से प्रेक्षक के चित्त में क्लेश उत्पन्न होता है तथा सामाजिक, भयानक जैसे रसों से तो उद्विग्न ही होते हैं। फिर इन रसों के प्रसंग नाटक में देखने की प्रवृत्ति कैसे होती है! इसके उत्तर में राम-गुण कहते हैं रसास्वाद के विराम की स्थिति में यथावस्थित वस्तु प्रदर्शन के कवि या नट के कौशल में जो चमत्कार है, उसके कारण यह प्रवृत्ति होती है। संग्राम में अपने शत्रु को भी अपने ऊपर कौशल से प्रहार करते देख वीरमानी लोग चमत्कृत होते हैं, यद्यपि इस चमत्कृत होने में उनके लिए दुःख ही है। इस प्रकार कवि-नट-कौशल से विप्रलब्ध या ठगे गये प्रेक्षक दुःखात्मक करुण रस में भी परमानंद-रूपता का अनुभव करते हैं। वस्तुतः संसार सुखदुःखात्मक है और कवि इसका अनुकरण करते हुए काव्य में सुखदुःखात्मक रस को ही निबद्ध करते हैं। जिस प्रकार पानक रस की मधुरता में कटुता या तीक्ष्णता भी मिली रहती है, फिर भी उसका स्वाद पीने वाला सुख से ही लेता है, वैसे ही दुःखसम्मिश्रित सुख का ऐसे रसों में आस्वाद सहृदय लेते हैं। सीता हरण, द्रौपदी का केशाबराकर्षण, हरिश्चंद्र का चांडालकर्म, रोहिताश्व की मृत्यु, लक्ष्मण को शक्ति लगना—इन सब प्रसंगों का उल्लेख कर राम-गुण कहते हैं कि क्या ऐसे प्रसंगों को देख कर कोई सुखानुभव कर सकता है! राम-गुण का निष्कर्ष यही है कि परमार्थतः इनमें दुःखानुभव ही होता है।

अभिनव ने कुछ स्थायीभावों की सुखरूपता और कुछ की दुःखरूपता बतलायी है, तथा रस को समुदायरूप कहा है, पर अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि की परंपरा है, जो रस को आनन्दरूप या सर्वथा सुखात्मक ही मानती है। राम-गुण के मत का प्रत्याख्यान करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि हरिश्चंद्र आदि के दुःखमय चरित में अश्रुपात आदि चित्त की द्रुति के कारण होते हैं, दुःख के कारण नहीं (साद० 3/7)। सुरत में दंतघात की पीड़ा भी जैसे सुख रूप होती है, वैसे ही करुण रस में अश्रुपात आदि। अतः काव्य में सभी विभावादि से सुख ही होता है—यह नियम मानना चाहिए (वही)।

उत्सृष्टिकांक के नायक रूपक को करुणरस प्रधान कहा गया है। यह ध्यातव्य है कि यही एक रूपक-प्रकार नहीं है, जिसमें दुःखानुवेध आचार्य भरत मानते हों। डिम, ईहामृग, समवकार जैसे रूपक भेदों में भी दुःख के अतिशय की बात भरत कहते हैं। इस दृष्टि से वे समग्र नाट्य परंपरा को ही दो धाराओं में बाँट देते हैं—आविद्ध और सुकुमार। आविद्ध श्रेणी के रूपक—डिम, समवकार, व्यायोग, ईहामृग आदि आतंक, भय, त्रास और दुःख के अनुभव को प्रमुखता देते हैं। सुकुमार श्रेणी के

रूपक—नाटक, प्रकरण आदि जीवन के लालित्य और श्रृंगार को। भरत इस तथ्य के प्रति सजग थे कि नाट्यानुभव एक जटिल तथा विविध भावों से संश्लिष्ट अनुभव है। पानकरसन्याय से परवर्ती आचार्यों की दृष्टि में इस अनुभव में किसी एक भाव की स्वतंत्रतया प्रतीति भले न होती हो, पर जब तक जीवन के संपूर्ण भावों का मिश्रीकृत रूप इस नाट्यानुभूति के पेय में न होगा, भले ही वे शोक, अमर्ष आदि के कसैले, कड़वे भाव ही क्यों न हों, कला का अनुभव परिपूर्णता में प्राप्त नहीं हो पायेगा। इस दृष्टि से भरत ने नाट्य के अनुभव को विविध भोज्य व्यंजनों से मिलने वाले हर तरह के स्वाद से तुलना करते हुए कहा है कि नाना व्यंजनों से जिस तरह आस्वादक उनसे विविध स्वाद पाते हैं, उसी तरह नाट्य से हर्ष, शोक आदि विविध भावों का अनुभव करते हैं। अतएव भरत की दृष्टि से रस के अनुभव से जनित स्थिति सुख-दुःखात्मक होती है—

लौकिकी सुखदुःखाख्या यथावस्था रसोद्भवा। ना० शा० 19.5

बहुत बाद में, पंडितराज जगन्नाथ ने रस को सुख प्रधान मानने वालों की परम्परा में रहकर भी, एक विकल्प यह सुझाया कि दुःखानुवेध रस में है तो, पर सुख-भूयिष्ठता के कारण दर्शक या श्रोता की काव्य या नाट्य में प्रवृत्ति होती है, जिस प्रकार चंदन पीसने में कष्ट तो है, पर उसके बाद तदुपभोगजन्य आनंद के कारण पेषण में प्रवृत्ति होती है।

अतः रस के अनुभव को लेकर आचार्य परम्परा में दो खेमे हो जाते हैं। एक दुःखानुवेध की उसकी प्राथमिक शर्त ही स्वीकार करके चलती है। वह रस को एक संप्लवात्मक जटिल और सम्मिश्रित अनुभूति ही मानती है। दूसरी परम्परा सुख-प्राधान्य को उसकी प्राथमिक और अनिवार्य शर्त मानती है, दुःखानुवेध के प्रत्यक्ष अनुभव को दबा देना चाहती है और अंततः कविता या नाटक को स्रक्-चंदन-वनितादिसुखोपभोग सामग्री में परिणत कर डालती है।

इन दो परम्पराओं में रस को संप्लवात्मक अनुभव मानने वाली परम्परा ही आचार्य भरत और भारतीय जीवन-बोध, जीवन मूल्यों के अधिक निकट है। जहाँ रामायण में करुण रस का प्राधान्य अनुभव सिद्ध तथा आचार्य परम्परा को भी मान्य हो, जहाँ कुंती अपने प्रभु से वर के रूप में दुःख माँगती हो, वहाँ समग्र जीवन के अनुभव से दुःख को अस्वीकार करने वाली परम्परा के लिये अवकाश नहीं हो सकता। रस जीवन के व्यापक वृत्त का उसकी समग्रता में अनुभव है, उसे संविद्-विश्रांति मात्र कहने से उसकी संपूर्णता की क्षति होती है। एक सम्पूर्ण मनुष्य बनने के लिये दुःख से गुजरना अनिवार्य है, उसी तरह कविता में जीवन के संपूर्ण अनुभव के लिये पर्यन्त तक दुःख की अनुभूति का सातत्य भी।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में संस्कृत नाट्यकारों की पंक्ति में भवभूति की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है, विशेषतः आचार्य वामन का ऊपर जो उद्धरण दिया गया है, उसके संदर्भ में। वामन करुण-प्रेक्षणीय या करुण रस प्रधान नाटक के अभिनय में सुख और दुःख के संप्लव की बात करते हैं। इस संप्लवात्मकता के लिये ही भवभूति जीवन के विभिन्न भावों के आवर्त बुद्‌बुद तरंगों से एक करुण रसात्मक जल का संप्लव होने का दृष्टांत देते हैं। वामन भवभूति के कनिष्ठ समकालीन थे। उन्होंने भवभूति के रूपक पढ़े थे, या संभवतः मंच पर देखे भी थे। वे भवभूति को उद्‌धृत करने वाले संस्कृत काव्यशास्त्र के पहले आलंकारिक हैं। वे भवभूति के महावीर-चरित तथा उत्तर रामचरित इन दो नाटकों के एक-एक पद्य उद्‌धृत करते हैं। इस बात की पूरी संभावना है कि करुणरस के प्रेक्षणीय में दुःख-दुःख की संप्लवात्मकता की बात वामन भवभूति के कर्तृत्व से प्रभावित होकर कह रहे हों। भवभूति रस के सम्मिश्र अनुभव को अपने कर्तृत्व से रेखांकित करते हैं। सुख में दुःख के अनुवेध का, सीधी सपाट समझी गयी अनुभूति की जटिलता का इतना तीव्रता से बोध संस्कृत कविता में अन्यत्र कहीं नहीं होता, जितना भवभूति में।

सत्य कितना ही भयावह क्यों न हो जीवन और जगत् की विभीषका कितनी ही दारुण क्यों न हो, भवभूति चाहते हैं कि उससे बच निकलने की बजाय उसे स्वीकार किया जाय। इस भयावहता, विभीषिका की दारुणता और मर्मांतक पीड़ा से जो सामना नहीं कर सकता, वह जीवन के सुख और राग के आनन्द को भी नहीं जान सकता। भवभूति जीवन की 'अकांडविवर्तनदारुणता' की, मन के रोगों के परिशेष की, विशद और व्यापक अनुभूति कर पाते हैं, तभी वे हृदय के सौन्दर्य और प्रेम के सामर्थ्य को भी उतनी गहरायी से जान पाते हैं और प्रस्तुत कर पाते हैं। जीवन की त्रासदी की एक अवधारणा भवभूति के रूपकों में मिलती है, और इस अवधारणा के प्रक्षेप में वे अपने से पहले की एक लंबी परम्परा से अपने को जोड़ लेते हैं। परम्परा व्यास की है जिन्होंने अपने युग की सारी विभीषिका को बहुत बेबाक ढंग से कहा—

अतिक्रांतसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसाः पृथिवी गतयौवना॥

यह परम्परा वाल्मीकि की है जो सैकड़ों वर्षों के संघर्ष और दुःख के बाद भी जीवन में आनंद की आशा रखती है—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिक प्रतिभाति माम्।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतैरपि॥

वामन की तरह भवभूति भी रस के विषय में यही कहते हैं—'मिश्रीकृतक्रमो

रसो वर्तते'। संस्कृत नाट्यकारों में भवभूति ही इस तथ्य का जीवंत अनुभव देते हैं कि इस संसार का वृत्त जिन चीजों से बना है उनमें बीभत्सता भी है, संत्रास भी। इस संसार वृत्त को जब वे अपने नायक राम के शब्दों में परिभाषित करते हैं, तो कुछ इस तरह का पाते हैं—

'निरन्वय-विपर्यास-विप्रलम्भ-स्मृति-पर्यवसानिका-स्तावकाः संसारवृत्तान्ताः।'
(उराच० षष्ठ अंक)।

इस कथन को राम की उद्विग्न दुःखाकुल मनःस्थिति की उपज मात्र कह कर नहीं टाला जा सकता। भवभूति का रचनाकार मूलतः इस दृष्टि को लेकर चलता है कि संसार में करुणा, राग, सौंदर्य और प्रेम के अद्वितीय आनन्द के साथ बीभत्सता, मर्मांतक कष्ट और त्रास भी है। हर तरह का संबंध इस द्वैध से ग्रस्त है। उत्तरचरित के आरंभ होते ही हम राम के इस वाक्य पर अटकते हैं—

'एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावाः येभ्यो बीभत्समानाः सन्त्यज्य सर्वान् कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः।'

इस वाक्य की व्याख्या में टीकाकार वीरराघव ने 'संसारो हि शरीरसंबंधानुबन्धिसुखदुःखसमुदायः' कह कर जगत् के विषय में भवभूति के दृष्टिकोण को अच्छा समझाया है। जब तक मनुष्य है, मानवीय सम्बन्ध हैं तब तक सुख के साथ दुःख संश्लिष्ट है। फिर भी भवभूति अरण्य में विश्रांति के पक्ष में नहीं हैं, वे इस संसार की तमाम बीभत्सता और त्रास, सौन्दर्य और स्नेह की शक्ति का साक्षात्कार करते हैं। उनकी जीवन तथा रचना के प्रति यह दृष्टि उन्हें आविद्ध रूपकों की छीजती हुई परंपरा के पुनराविष्कार के लिये प्रेरित करती है।

यों तो मृच्छकटिक जैसी शक्तिशाली रचना प्रकरण की विधा में भवभूति के पहले आ चुकी थी। भवभूति ने मालतीमाधव जैसा एक प्रकरण लिखकर क्या कर दिखाया! इसका उत्तर अपने कर्तृत्व और दृष्टि की व्याख्या करते हुए प्रस्तावना में कदाचित् भवभूति स्वयं देने की चेष्टा करते हैं—

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमयोजितकामसूत्रं चित्रा कथा वाचि विदग्धता च॥

सबसे पहली ही बात बहुत सारे रसों के गहन प्रयोग की है किसी एक रस के परिपोष से जन्य आस्वाद से नाटककार को परितोष नहीं है। वह विविध रसों की गहन अभिव्यक्ति के द्वारा जीवन के वैविध्य और गहनता को प्रस्तुत करना चाहता है। फिर सौहार्द की हृद्यता के साथ औद्धत्य भी समाविष्ट है। प्रस्तावना में दावा किया गया है कि यह कृति 'एवम्प्रायगुणभूयसी' है और यह दावा गलत नहीं है।

संविधान की दृष्टि से मालतीमाधव शूद्रक के प्रकरण की तुलना में एक शिथिल और कमजोर रचना हो सकती है, पर उसकी अपनी उपलब्धियाँ उसे मृच्छकटिक से आगे ले जाती हैं। संस्कृत के अन्य किसी रूपक में कदाचित् पिता के द्वारा बेटी को विवाह की बलिवेदी पर अर्पित कर देने की बात इतने साहस के साथ नहीं कही गयी (कथमुपहारीकृतास्मि तातेन राज्ञे), कापालिक अघोरघंट के द्वारा सचमुच एक मालती को बलि चढ़ाता दिखाने के पहले पिता के भी एक कापालिक बन जाने की निष्करुणता का उद्घाटन भी ऐसे तेजस्वी शब्दों में और कहीं नहीं कराया गया—(निर्व्यूढं च निष्करुणतया तातस्य कापालिकत्वम्)। स्त्री के जीवन की विडम्बना को कालिदास ने भी अपने समकालीन सामंतवादी समाज के संदर्भ में चित्रित किया था, पर भवभूति ने अपनी ओजस्वी बानगी के साथ उसे जब कहा, तो उसका अनुभव अधिक मनोन्माथी बनकर सामने आया—

गृहे गृहे पुरुषाः कुलकन्यकाः समुद्वहन्ति, न खलु कोऽपि लज्जापराधीनमनपराद्धं मुग्धसुकुमारस्वभावं कुलकुमारी जनं प्रभवामीति वाचानलेन प्रज्ज्वालयति। एते खलु ते हृदयशल्यनिक्षेपा आमरणं संस्मर्यमाणदुःसहाः पतिगृहनिवासवैराग्यकारिणो महापरिभवा येषां कृते स्त्रीजन्मलाभं जुगुप्सन्ते बान्धवाः। (मा० मा० पृ० 83)।

कालिदास ने कण्व के मुख से 'पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः' जैसे कथनों के द्वारा प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया था कि गृहस्थ की पीड़ा उनके नाटक में साक्षात् चित्रित नहीं है। उनके नाटकों की तीनों नायिकाओं पर भी यह बात लागू होती है। वे कुटुंब से, घर परिवार से कटी हुई हैं। भारतीय परिवार के बीच पलकर वयस्क होती एक लड़की के द्वन्द्व, कचोट, पीड़ा और साहस का चित्रण संस्कृत नाटक में केवल भवभूति ने करके दिखाया और इस लड़की के दुःख तथा अपने ही घर और कुटुंबियों के साथ विपरिवर्तित होते संबंधों की पीड़ा के साथ उसके साहस की अप्रतिमता में भवभति ने 'विचेष्टित' और 'औद्धत्य' के द्वारा आविद्ध रूपकों की परंपरा को नये रूप में जीवित किया। श्मशान, नरबलि, युद्ध और नगर की सड़कों पर सिंह से संग्राम के चित्रण के द्वारा भवभूति प्रणयकथा को एक बड़े विश्व से जोड़ते हैं। इसमें 'सौहार्द की हृद्यता' के साथ 'विचेष्टित' का दुस्साहस और औद्धत्य है। यदि मालतीमाधव की कथा दस अंकों तक खींचकर आगे ले जायी गयी है, तो दुःख के वृत्त को पूर्ण करने के लिये। दुस्साहस करके घर छोड़कर चली गयी पुत्री के लिये पिता का दुःख अंतिम अंक में ही सामने आता है और वही पिता-पुत्री को फिर से एक दूसरे से जोड़ता है। इसलिये मालतीमाधव युवा प्रणय की जितनी ही बड़ी कथा है उतनी ही दुःख की अंतर्निहित धारा और जीवन की विभीषिका और अभिशाप की भी। दुःख जीवन को काटता है, फिर भी जीवन का प्रवाह निरंतर बह रहा है क्योंकि 'विचेष्टित' या मनुष्य की विशिष्ट चेष्टा भी उतनी ही बड़ी

है जितना बड़ा दुःख। मालतीमाधव बृहत् दुःख से उबरने के लिये विचेष्टित में निरत लोगों की गाथा है इनमें सभी लोग हैं—माधव, मालती, कामंदकी, मकरंद और भूरिवसु भी। यदि पूरे नाटक से उभरती मनुष्य के कर्तृत्व और संसार के दुःख के इस महासंघर्ष की कथा में यदि कहीं कमी रह जाती है, तो यही कि कहीं-कहीं मनुष्य की चेष्टा सम्मूर्च्छित होती लगती है, नियति-जन्य यादृच्छिकता कथा के सूत्र अपने हाथ में ही ले लेती है। भारतीय जीवन दृष्टि दुःख को सृष्टि का अंश मान कर भी कर्म से विरत नहीं होती, नियति के हाथों अपनी निजता नहीं सौंपती। मालती-माधव में यद्यपि पात्र कर्म से विरत नहीं होते, पर भाग्य का अप्रत्याशित हस्तक्षेप कई बार अपनी आकस्मिकता में उनकी सामर्थ्य को पराहत करके छोड़ देता है, इसकी अनुगूंज भी बार-बार हम उनके संवादों में सुनते हैं—

> प्रविक्षिप्तं चेतः प्रविशति च मोहान्धतमसम्।
> अकिञ्चित्कुर्वाणाः पशव इव च तस्यां वयमहो
> विधातुर्वामत्वाद् विपदि परिवर्तामह इमे ॥—9.8
> सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदः प्रथममेकरसामनुकूलताम्।
> पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः प्रविशिनष्टि विधिर्मनसोपुजम् ॥—4.7

> को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्दाराणि दैवस्य विधातुमीष्टे
> पुनरुक्तदारुणस्य परिणपरमणीयत्वं विधेः।—पृ० 129

उत्तररामचरित में नियति मनुष्य के कर्तृत्व के द्वारा विस्थापित कर दी गयी है। यद्यपि 'दारुणदैवनिर्घात' की बात यहाँ भी उठती है, पर नियति की अवधारणा के स्थान पर भवभूति यहाँ 'ऋत' की वैदिक अवधारणा को अंगीकार करते हुए लगते हैं। दूसरी ओर राम जानते हैं कि उनका दुःख नियति-जन्य नहीं, उनके अपने निर्णय और कर्म का परिणाम है, और यह निर्णय भी संयोग या यादृच्छिकता के कारण नहीं, 'विशिष्ट' सामाजिक स्थितियों के कारण लिया गया है। अस्तित्ववादी दर्शन की शब्दावली में कहें—तो राम अपने कर्म से अपने को परिभाषित करते हैं। इसलिये मालतीमाधव का माधव तो ग्रीक या अंग्रेजी नाटक की त्रासदी के नायक के कद तक नहीं पहुँचता, पर राम उस तक या उससे भी ऊपर तक पहुँचते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से वह पृष्ठभूमि जानी जा सकती है जिसमें संस्कृत नाटक की क्लासिकी परंपरा विशेषतः भवभूति के नाटक से त्रासदी की एक विशिष्ट अवधारणा निर्मित होती है और जिसका तारतमिक वैशिष्ट्य ग्रीक या एलिजाबेथन त्रासदी की तुलना में देखा जा सकता है। यदि ग्रीक त्रासदी से तुलना करके देखें तो स्पष्टतः ग्रीक और भारतीय संस्कृतियों तथा जीवन दर्शनों में परस्पर मूलतः इतना वैषम्य है कि ग्रीक त्रासदी हमारी परंपरा के नाटक से बहुत भिन्न और दूसरे ही छोर

पर खड़ी हुई लगती है। ग्रीक त्रासदी में देवता या नियति मनुष्य के साथ जो क्रूर खिलवाड़ करते हैं और उसे अपना एक खिलौना बना लेते हैं—उसकी कोई कल्पना हमारी परंपरा में नहीं की जा सकती। ईदीपस के द्वारा अपनी माँ से विवाह की अवांछित घटना नियति के ऐसे विधान से घटती है, जिसमें मनुष्य सर्वथा अवश, दयनीय और उपहासास्पद हो गया है। यद्यपि मालतीमाधव के पात्र भी कहीं-कहीं नियति के हाथों खिलौने बने हुए से लगते हैं, पर कर्म की संभाव्यता ने उन्हें ऐसी अवशता या दयनीयता की दशा से उबार लिया है। ग्रीक त्रासदी से हमारी परंपरा के श्रेष्ठ नाटक का इतना साम्य अवश्य है कि दोनों में नायक अत्यंत अभिजात और विशिष्ट व्यक्ति है। उसकी उदात्तता, सदाशयता, शौर्य आदि असामान्य गुण उसके दु:ख को भी विशिष्ट बना देते हैं, वह अपने दु:ख में भी असामान्य धैर्य और असामान्य पीड़ा दोनों के कारण साधारण जनप्रवाह से कुछ अलग ही खड़ा हुआ लगता है।

'स्वप्नवासवदत्तम्' में उदयन के मुख से भास ने इस बात को बहुत मार्मिक रूप में व्यक्ति किया है—

यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं
प्राप्ता नृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्।

यहाँ नायक लोकयात्रा से अलग कुछ और ही अपनी पीड़ा के सातत्य के कारण हमें लगता है। जीवन में आये आकस्मिक आघात से जनित पीड़ा या कचोट के कारण ग्रीक त्रासदी अंशतः हमारे नाटक से साम्य रखती है।

भवभूति निरंतर यह प्रत्यय देते हैं कि राम की करुणा असाधारण है। अपने असामान्य धैर्य से ही वे उसे झेल जाते हैं।

अनिर्भिन्नो निगूढत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥

असाधारण दु:ख को झेलते हुए वे असामान्य स्थितियों से गुजरते हैं—

ईदृशानां विपाकोऽपि जायते परमाद्भुतः।

इसलिये त्रासदी का अनुभव हमें स्वप्नवासवदत्तम्, शाकुन्तल या उत्तररामचरित पढ़ते या देखते समय होता अवश्य है। इन तीनों नाटकों में पात्र जीवन की गहरी पीडा या मर्मान्तिक अनुभव से गुजरते हैं। जीवन में दु:ख का सातत्य या अविभाज्यता है वह अनुभव ही त्रासदी को जन्म देता है। उक्त तीनों नाटकों में हम इस सातत्य का निरंतर अनुभव करते हैं। अतएव इस दृष्टि से इन्हें त्रासदी कहा जा सकता है।

त्रासदी की इस भारतीय परंपरा में भवभूति का अवदान इसलिये महत्त्वपूर्ण

हो जाता है कि दुःख की अविभाज्यता और नैरंतर्य दोनों का प्रत्यय जितने विस्तार और गहराई के साथ वे हमें देते हैं, उतना उनके पहले के नाटककार नहीं। यद्यपि शाकुन्तल में नायक और नायिका का पुनर्मिलन भी अतिशय कारुणिक है पाँचवें अंक में अप्रत्यभिज्ञा के कारण जो त्रासद स्थिति बनी थी उसकी पुनरावृत्ति एक भिन्न पर अधिक मार्मिक रूप में यहाँ होती है। पहली दृष्टि में अब की बार शकुन्तला दुष्यंत को नहीं पहचान पाती और कहती है ये तो आर्यपुत्र नहीं हैं, फिर वह कौन है जो अपने गात्रसंग से मेरे पुत्र को दूषित कर रहा है! बात यहीं तक नहीं है। उसका बेटा अपने ही पिता का परिचय उससे पूछता है, तो अप्रत्यभिज्ञा-जन्य त्रासदी अधिक कारुणिक होती है और इससे आगे जब अप्रत्यभिज्ञान का कारण बनी अँगूठी को दुष्यंत वापस शकुंतला को पहनाना चाहता है, तो उसका यह कहना—'मुझे इसका विश्वास नहीं, आप ही इसे पहने रहिये'—इस पुनर्मिलन में अनुस्यूत गहरी पीड़ा के सातत्य का बोध हमें होता है। भवभूति सुख में भी दुःख अनुस्यूत होने के संकेत को यहाँ से उठाकर उसे कई आयामों में विशद विस्तार से व्यक्त करते हैं। सुख और दुःख के पर्यायक्रम की और सम्मिश्रण की बात कालिदास ने भी कही थी, पर भवभूति जीवन से दुःखानुवेध को इतनी गहराई से अनुभव करते हैं कि उनमें सुख के दिनों की स्मृतियाँ भी दुःख की कचोट देती हैं—

मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसाः गताः। कालिदास में दुःख के दिनों की स्मृति भी सुख में परिणत हो जाती है—

> तयोर्यथा प्रार्थि तमिन्द्रियार्थाना—
> सेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
> प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु
> सञ्चिन्त्यमानानि सुखीबभूवुः॥ [—रघु० 14.25

भवभूति ने इसे उलट दिया है, पर जीवन के सत्य और मर्म को उद्घाटित उन्होंने भी किया है, कालिदास ने भी। मनुष्य अपने आप में एक संभावना है, उसके अनुभव और संवेदन में अपार संभावनाशीलता है। यही जीवन में दुःख का संश्लेषण है, जिसे भवभूति ही इस रूप में अपने संवेदन से उद्घाटित कर सके हैं। सुख की स्मृति आह्लाद से उच्छ्वसित कर सकती है, तो दुःख की कचोट भी दे सकती है। भवभूति मनुष्य के साथ लगी सदा की साँसत, उसके भीतर निरंतर चलते महा हाहाकार की पीड़ा का मर्मोद्घात करते हैं। अतीत का झेला दुःख नये दुःख को जन्म देता ही है—(पुरा भूतः शोको विकलयति मां नूतन इव),—अतीत के सुख के दिनों की स्मृति भी सालती है क्योंकि वह आज के अभाव का बोध देती है, वे सुख के दिन अब लौटाये नहीं जा सकते—

"मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ।"

फिर भी भवभूति आज के छायावादी या रहस्यवादी कवियों की तरह के वेदना के कवि नहीं हैं, क्योंकि वे जीवन को परिपूर्णता में देखकर, उसके संपूर्ण वृत्त में अंतर्निहित अजस्र करुणा की धारा को प्रत्यक्ष करते हैं। वे मात्र सुख की "संस्मर्यमाणदुस्सहता" के कवि नहीं हैं, सुख की स्मृतियों में बस दुःखोच्छ्वास ढूँढ़ते रहने की उनकी प्रकृति नहीं। वे उन तत्त्वों का संकेत करते हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने अभ्युदय में भी पतन और शोक के बीज पाता है जिनके कारण निर्वहण में भी दुःखांश संश्लिष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से भवभूति नाटक के सुखांत को भी नया बोध देते हैं। उराच० में राम का भरतवाक्य के पूर्व का वाक्य ही यह है—

"सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्यैमि, यद् वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम्"

अभ्युदय की प्रकृति में दुःखानुभूति का यह संश्लेष जीवन की उसकी जटिलताओं के साथ समझने के कारण है। चरम आह्लाद के क्षणों में जब दुःख की कोई स्मृति कोई कचोट आपाततः न हो, तब भी क्या भीतर अनाहत नाद की तरह करुणा का कोई स्वर बजता नहीं होता ! भवभूति ही जीवन के इस अंतःस्वर को सुन पाये हैं। सीता के साथ सुख के उच्छ्वास में खोये, उसके स्पर्श से रोमांच का अनुभव करते, अतीत और अनागत के सारे कष्टों से बेखबर राम जब प्रेम और आनंद की अपनी अनुभूति को परिभाषित करते हैं, तो कुछ इस तरह—

"विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ॥

जिसे सुख समझा जा रहा है, वह इत्थमित्थं रूप में पूरा का पूरा सुख ही हो—ऐसा नहीं है। जिसे दुःख जाना जा रहा है, वह भी सारा का सारा दुःख ही नहीं है। जीवन में मनुष्य के सामने जो स्थितियाँ आती हैं, उन्हें सुख और दुःख के अलग-अलग खाँचों में बाँट कर इस तरह सरलीकृत करके नहीं देखा जा सकता। यही जीवन के रस का "मिश्रीकृतक्रम" रूप है। इसमें सदैव एक विडंबना भी मिली रहती है, और सुखोच्छ्वास भी। जीवन की मधुधारा में विष के अंश का मिश्रण अनिवार्यतः रहना है "एतास्ता मधुनो धाराश्च्योतन्ति सविषास्त्वयि।"

भवभूति के नाटकों में दुःख की इस अनिवार्य पर्यंतगामी अवतारणा ने भारतीय नाटक को त्रासदी का एक रूप दिया है। इसकी झलक पहले के नाटकों में दिख चुकी थी। भवभूति ने इसको जीवन की अनदेखी संभावनाओं से साक्षात् करते हुए गहनता और पूर्णता दी। उन्होंने इस करुण प्रेक्षणीय या भारतीय त्रासदी को परिपूर्णता देने के लिये अपने नाटकों में निम्नलिखित अभिप्रायों को चरितार्थ किया—

1. विरुद्धधर्माध्यास
2. अप्रत्यभिज्ञा
3. कर्म और दायित्वबोध
4. मनुष्य की संभावनाशीलता

पहली स्थिति से उत्पन्न विडंबनाएँ "मालतीमाधव" की त्रासदी के पीछे अधिक सक्रिय दिखायी पड़ती हैं। इस प्रकरण के लगभग सारे पात्र अपने सहज धर्म के विपरीत आचरण करते दिखायी पड़ते हैं। कामंदकी भिक्षुणी और वैराग्यैकसंश्रया होकर सारे "कपटनाटक की प्रस्तावना" रचती है। जीवन के बडे विचित्र अंतर्विरोध और सम्मिश्र अनुभूतियाँ उद्गत होती हैं जब हम उसे कहते पाते हैं—

"तवाङ्कशायी परिवृत्तभाग्यया
मया न दृष्टस्तव यः स्तनन्धयः सुतः ॥"

अपने दार्शनिक अवबोध से प्रेरित होकर भवभूति ने अध्यास व अध्यारोप के सहारे उनके कार्यकलाप में वैचित्र्य, संकट का अनुभव भर दिया है। निर्वेद और निर्वाण की जगह सांसारिक भावों की ओर उन्मुखता, ममता और करुणा में कामंदकी का "चीवर विरुद्ध परिचय" है। यह विरुद्धधर्माध्यास मालती के पिता भूरिवसु, राजा और उभरे बूढ़े नर्म सचिव नंदन में भी है। नंदन अल्पवयस्का मालती से विवाह करना चाहता है और राजा उसकी सहायता करता है। अमात्य भूरिवसु उसका आदेश सिर-माथे पर रखते हुए से लगते हैं। यह इन पर विरुद्ध धर्म का अध्यास है। अध्यास इसलिए कि नाटक के अंत में तीनों अपने सहज प्रकृत रूप में सामने आते हैं। माधव और मकरंद ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित कर्म में संलग्न दिखायी पड़ते हैं। माधव आन्वीक्षिकी पढ़ने के लिए पद्मपुर से पद्मावती आता है और मालती के अन्वीक्षण में रत हो जाता है। मालतीमाधव में पिता कापालिक जैसा प्रतीत होने लगता है और एकस्थल पर "हन्त माधवानुरक्तेयं तपस्विनी"—कापालिकी के इस कथन की प्रतिक्रिया करता हुआ कापालिक पिता जैसा। ये विरुद्ध धर्माध्यासजन्य स्थितियाँ त्रासदी के बोध को तीव्रता और उत्तेजना प्रदान करती हैं।

इसी से जुड़ा हुआ अभिप्राय अप्रत्यभिज्ञा (न पहचाना जाना) का है। महावीरचरितम् में मंथरा पर शूर्पणखा का व्यक्तित्व अध्यस्त है, और दशरथ आदि उसे पहचान नहीं पाते। मकरंद नववधू के रूप में नंदन से परिणीत होता है, और नंदन उसे मालती समझ कर मनाता-रिझाता और लात खाता है। पर जीवन की कारुणिकता अप्रत्यभिज्ञा के अभिप्राय के द्वारा उत्तररामचरितम् में खुलती है। मनुष्य अपनी सहज प्रकृति से, सौजन्य के साथ कुछ करता या कहता है और नहीं जानता कि उसने क्या कर दिया, क्या कह दिया! क्या जानते थे लव और कुश कि जिम व्यक्ति के

आगे वे रामायण के प्रसंग सुनाकर उसके अतीत के मर्म उखाड़ रहे हैं, उसके पत्नी के साथ बीते दिनों के मधुर प्रेम प्रसंग वाले पद्य पढ़ रहे हैं, और एक दूसरे को समझा रहे हैं कि भाई ये दुःखी तो होंगे ही सीता देवी के बिना सब कुछ दुःखद तो लगता ही होगा इन्हें—

बिना सीतादेव्याः किमिव नहि दुःखं रघुपतेः
प्रिया नाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ।

तो वे क्या जानते थे कि जिसके बारे में इतनी सहजता से वे यह कह गये, वह तो उनका पिता ही है, और जिसकी प्रिया के नाश की बात कर गये, वह उनकी ही माता है "प्रिया के बिना सारा जग जंगल जैसा हो जाता है"—यह बात कुश ने लव से कही थी–राम का दुःख समझाते हुए। यह बात सीता को छोड़ते समय राम ने भी कही थी—"शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्"—पुराने उजाड़ जंगल सा सारा जग आज मेरे लिए सूना हुआ। पर कहने-कहने में बड़ा अंतर हो गया। प्रत्यभिज्ञा न होने से चीज कुछ और ही दिखाई देती है, उसी तरह जैसे विरुद्ध धर्मों के अध्यास में वह कुछ दूसरी हो जाती है। अध्यास और अप्रत्यभिज्ञा में जो जैसा था, वह वैसा नहीं रह जाता। वस्तु अपने स्वभाव को छोड़ देती है। ये दोनों अभिप्राय एक दूसरे से जुड़कर "निरन्वया-विपर्यास-विप्रलम्भ-पर्यवसायी संसार-वृत्तान्त" के चक्र को घुमाते रहते हैं। इस प्रकार इन दोनों से भवभूति के नाटक की त्रासदी का एक रूप बनता है।

कर्म और पात्रों के दायित्वबोध के कारण भवभूति अपने पात्रों को विकट संशय और अनुताप झेलता दिखाते हैं। नियति विधान को निरस्त कर उनके पात्र वरण की स्वतंत्रता प्रकट करते हैं। मालती को अपने पिता और प्रेमी में से एक चुनना है और वह साहस के साथ दूसरे का वरण करती है। इस वरण के कारण वह जिस गहरी यंत्रणा से गुजरती है, उसका चित्रण भी संस्कृत नाटक में भवभूति को छोड़ अन्य किसी ने इस रूप में नहीं किया। माधव को भी राजा की निषेधाज्ञा के रहते छद्मविवाह करने का दायित्व लेना है। पर कर्म और दायित्वबोध से जनित अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक पीड़ा की दृष्टि से त्रासदी का बृहत्तर आयाम उत्तररामचरित में खुलता है। राम जान-बूझ कर सचेत रह कर ही सीता त्याग का निर्णय लेते हैं और इसके लिए ये अकेले जिम्मेदार हैं। निर्णय लेते समय की दारुण यंत्रणा उन्हें अकेले ही झेलना है।

यह स्थिति शेक्सपीयर के "ओथेलो" का स्मरण कराती है। अपनी पत्नी डेस्डेमोना की हत्या करते समय भी ओथेलो अपने कृत्य की जघन्यता के प्रति सचेत है। वह कहता है कि पत्नी का जीवन दीप बुझाने के पहले उसने अपना जीवन दीप

बुझा लिया है। इधर सीता को त्यागने का निर्णय राम के लिए निष्पाप सुकुमार प्रेयसी की हत्या से भी अधिक त्रासदायक है। यह घर में नेह से पाले पोसे गये पंछी को चोरी से बहेलिये के हाथों सौंपने के लिए विवश हो जाने जैसा है—

शैशवात् प्रभृति पोषितां प्रियां
सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।
छद्मना परिददामि मृत्यवे
सौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥

ओथेलो की त्रासदी से गहरी त्रासदी यहाँ इस अर्थ में है कि राम जानते हैं कि सीता के अनन्य विश्वास, हृदय के भोलेपन के प्रति वंचना कर रहे हैं। उन्हें अपने इस कर्म के संभावित दारुण परिणामों का पूरा बोध भी है। सीता के विस्रम्भ, गृह-लक्ष्मीत्व, भीरुत्व और आपन्नसत्व स्थिति का पूरा भान एक तरफ, अपने कृत्य की घोर क्रूरता का भी बोध उसके साथ —

विस्रम्भादुरसि निपत्य जातनिद्रा—
मुन्मुच्य प्रियगृहिणीं गृहस्य लक्ष्मीम् ।
आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं
क्रव्याद्भ्यो बलिमिव दारुणः क्षिपामि ॥

और साथ ही यह भी राम जानते हैं कि जो काम वे कर रहे हैं उसका पूरा दायित्व उनका अपना है। किसी और पर इसका दोष नहीं मढ़ सकते—भाग्य पर भी नहीं। राम का बोध ही उत्तररामचरित में मनुष्य के जीवन की उस गहरी त्रासदी का अभूतपूर्व चित्र खड़ा कर देता है, जिसका बोध सार्वकालिक है, जो सोफोक्लीज और एरिस्टोफेनीज के काल से लगा कर भास, कालिदास और शेक्सपीयर तक में नाना रूपों में झलका है और भी बाद के उन्नीसवीं-बीसवीं शती तक के पश्चिमी नाट्यकारों—ड्राइडन के रूपकों, रेसाइन या वाल्टेयर अथवा विक्टर ह्यूगो की त्रासदियों तक यह प्रकारांतर से उपस्थित है। महानगरों में बढ़ते औद्योगीकरण और यांत्रिक सभ्यता के अंतर्विरोधों के परिवेश में रचना करने वाले कुछ पाश्चात्य नाट्यकारों ने दो आदर्शों के बीच दोलायमान होने की यन्त्रणा झेलते या प्रेम और कर्तव्य के बीच चुनाव करने की कष्टकर प्रक्रिया से गुजरते नायकों का जो चरित्र प्रस्तुत किया है, उस तक को भवभूति के राम की वेदना अपने प्रसार और गहराई में समेट गयी है। अपने सारे अपराध बोध, अपने कर्म के दायित्व और सीता के प्रति की गयी क्रूरता की कचोट को लेकर राम को जीवित रहना है। यह त्रासदी की चरम परिणति है। जीवन के प्रयोजन का अवसान हो गया। यह जानकर भी जीते जाना है— 'अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य, शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्' पर 'न च रामो न जीवति !' रही बात उत्तररामचरित के सुखांत होने की, तो जो कवि संस्मर्यमाण

सुख को भी विषाद में विपरिवर्तित होता पा रहा हो, उसकी दृष्टि में सीता-राम का पुनर्मिलन क्या सचमुच पूर्ण सुख में परिणति है !

उत्तररामचरित में भवभूति ने त्रासदी के सारभूत तत्त्व को जीवन्त रूप में साकार कर दिया है। त्रासदी मनुष्य की अपार संभावनाओं से साक्षात्कार करती है। पश्चिमी नाटक के एक अध्येता लुकास का तो कहना ही यह है कि हैमलेट के शब्दों में त्रासदी का मूल अभिप्राय बस इस एक वाक्य में बताया जा सकता है— 'व्हाट ए पीस आफ वर्क इज ए मैन'—मनुष्य भी कितनी अद्भुत वस्तु है। मनुष्य-चरित्र की अप्रत्याशित संभावनाओं, उसके कर्म की परिणतियों में त्रासदी अपने आपको प्रकट करती है। अभी-अभी जो राम-सीता को 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' बता रहे थे तथा 'उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरै' की घोषणा कर रहे थे, वे मात्र एक दुर्मुख के वचन से उसे छोड़ने का दारुण निर्णय ले लेते हैं। उत्तररामचरित की सारी त्रासदी राम के इस निर्णय और उनके इस कर्म की मीमांसा करती है—सीता परित्याग पर इतने कोणों से उसमें विमर्श उठाया गया है कि समस्या मूलक अद्यतन नाटक या त्रासदी के धरातल उसमें उभर आते हैं। फिर भी मनुष्य के चरित्र की अव्याख्येयता बनी ही रही—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरूध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥

जीवन में सहसा आये इस अप्रत्याशित मोड़, उस मोड़ पर पहुँच कर लिये गये दारुण निर्णय पर और कहा भी क्या जा सकता था–'शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ?'

———

भवभूति के रंगकर्म की पहचान*

कमलेशदत्त त्रिपाठी

मेरे लिए जरूर एक मुश्किल की बात हो गई है कि भवभूति की व्याख्या कल से आज तक की तीन गोष्ठियों में बड़े विस्तार से यहाँ प्रस्तुत की जा चुकी है और बातों को दुहराना एक ऊब भी पैदा करता है और समय का अपव्यय होता है। नई बात कहना बड़ा मुश्किल काम है। फिर भी कोशिश करूँगा कि कुछ नये आयामों की ओर आपका ध्यान ले जाऊँ और उससे शायद कुछ बात आगे बढ़े। ये बात कल से यहाँ पर प्रायः दो-तीन बार विद्वान् वक्ताओं द्वारा रेखांकित की गई कि भवभूति एक नाटककार के रूप में किस तरह अपनी पहचान बनाते हैं। कहाँ हम उन्हें संस्कृत के दूसरे नाटककारों से अलग कर पाते हैं, तभी विश्व रंगमंच में भवभूति के अवदान की बात हम कुछ कह भी सकते हैं। दरअसल समस्या तो यह है कि विश्व रंगमंच को संस्कृत रंगमंच का भी कोई योगदान है या नहीं है और वह स्वीकार भी किया गया या नहीं स्वीकार किया गया।

मैं आपसे निवेदन करूँ कि विश्व रंगमंच को संस्कृत रंगमंच के योगदान के बारे में ही जो कुछ सोचा-समझा गया है वो बहुत नाकाफ़ी है। एक शुरुआत भी नहीं है। फिर उसमें भवभूति के योगदान की बात तो कहीं आती नहीं। कोई उसकी चर्चा ही नहीं करता। कई बार हम अपना एक घेरा बना लेते हैं और यह सोचते हैं कि ऐसा तो होता है, ऐसा तो है।

संसार के थियटर पर जो भी किताबें हैं, इस समय उनमें अच्छा काम हुआ है। पचास के दशक के बाद से संस्कृत रंगकर्म पर, भारतीय रंगकर्म पर और जरा

* समापन-सत्र में दिया व्याख्यान।

साफ कहें तो पौरस्त्य रंगकर्म पर सारे पूर्वी रंगकर्म की चर्चा उसके बाद कुछ गम्भीरता से शुरू हो सकी है। उसमें भी भवभूति के रंगकर्म, भवभूति के योगदान का तो बिल्कुल जिक्र ही नहीं आता है। फिर भी हम कोशिश करें कि क्या संभावना हो सकती है, भवभूति के योगदान की। कैसे हम उसको समझने की कोशिश में सफल हो सकते हैं। तो इस दृष्टि से मैं कहना चाहूगा कि यदि भास, कालिदास और कालिदास के बाद के जो प्रमुख नाटककार हैं उनसे भवभूति को एक नाटककार के रूप में उभारना है तो हमें बहुत साफ-सुथरी अवधारणा देनी पड़ेगी। खुद भवभूति अपने बारे में क्या ऐसा संकेत देते हैं। मुझे लगता है कि देते हैं। जब वे यह कहते हैं—'शब्द-ब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्' तो वे खुद अपने रङ्गकर्म में अपनी पहचान बताना चाहते हैं। यही नहीं महावीर चरित में भी वह वश्या वाक् की बात करते हैं। उतर चरित में भी वे उस वश्या वाक् की बात करते नजर आते हैं और—

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे
विन्देम देवतां वाचम् अमृता आत्मनः कलाम्।

इस मङ्गल श्लोक के द्वारा भी वे इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि वे एक कवि के रूप में शब्दब्रह्मवेत्ता कवि के रूप में जाने जाएँ। अर्थ क्या होगा? यदि वह बहुत ही सजग रूप से, सावधान रूप से जानते हैं कि जो वेदान्त में कुछ बात कही गई, जो सांख्य की बात है, जो दर्शनों की बात है उसको कहने से नाटक में कौन सा गुण पैदा हो जाएगा? नाटक में उसका क्या उपयोग है? अगर नाट्य में कोई उपयोग हो सकता है तो दरअसल वैदग्ध्य और पाण्डित्य का हो सकता है, दरअसल उसका कुछ उपयुक्त प्रयोग हो सकता है—'यत् प्रौढत्वमुदारता च वचसाम्' 'जो प्रौढत्व है, जो उदारता है वाक् की, वाक् से जो तत्त्व आने हैं, एक शब्दब्रह्मवेत्ता कवि अगर बनेगा तो वाक् की जैसी सम्भावना करेगा, वाक् की जैसी रचना कर सकेगा, कम से कम भवभूति के लिए जो कुछ हो सकती है—'यत् प्रौढत्वमुदारता च वचसाम्' और वाक् जिसकी उपास्या है वह कवि निश्चित रूप से अर्थ को भी उसी गहराई के साथ जानता है—क्योंकि

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।

वह वाक् का विवर्त ही अर्थ है, इसलिए अर्थ के बारे में भी वह उतना ही सजग होगा। वहाँ भी वह अपनी पहचान का संकेत करते हैं—सबेरे ही वे दो पंक्तियाँ कही गईं यहाँ पर। पहले कल भी कही गईं—'भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः'।

भवभूति की पहचान उनके अपने शब्दों में जो समझ में आती है वो है रस के

प्रयोग के विषय में। रस प्रयोग के विषय में वे दो विशेषण देते हैं। एक तो 'भूम्ना प्रयोगाः' और दूसरे 'गहनाः प्रयोगा'। यह रस का जो प्रयोग है, जो दूसरे रस प्रयोगों से उसको अलग करता है वो रस का भूमत्व है और वो रस का गहनत्व है। मैं लगातार सोचता रहा हूँ, यह रस का गहनत्व क्या चीज है। रस की गहनता की बात जब भवभूति करते हैं तो उस रस की गहनता को हम किस रस मे, किस रूप में उसकी रचनाओं में पहचानें, गहन शब्द का प्रयोग भवभूति की रचना में बार-बार आता है। मुझे लगता है यहीं पर जिस आंतरिक संघर्ष की, जिस आंतरिक द्वन्द्व की बात भवभूति की पहचान के रूप में की जाती है, वो सार्थक है तथा पूर्व में भवभूति द्वारा ही संकेतित है। रस की गहनता की जब हम चर्चा करते हैं, शब्द ब्रह्मवेत्ता जो कवि है वो उस तत्त्व में जहाँ संघर्ष जहाँ द्वन्द्व है उसको जान रहा है, उसका संप्रदाय जाग रहा है, वो उसको अच्छी तरह से पहचान रहा है। मुझे एकदम से कौंधती है वो पंक्ति जो शायद भवभूति से थोड़े ही पहले लिखी गई है—सर्व-परिकल्पातीत-तत्वम् भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः विद्याऽविद्या-प्रविभागरूपम् अप्रविभागं कालभेद-दर्शनाभ्यासेन मूर्तिविभागभावनया च व्यवहारानुपातिभिः धर्माधर्मैः सर्वावस्थासु अनाश्रितम्।

ब्रह्म एक तो अनाश्रित है, एक ब्रह्म-एक तत्त्व का एक स्वरूप जो सभी अवस्थाओं में कालजनित भेद से और देशजनित भेद से अस्पृष्ट है। लेकिन एक स्तर जहाँ सारा भेद, सारा संघर्ष, सारा द्वन्द्व काल की चेतना से पैदा होता है, जहाँ सारा द्वन्द्व देश के विभाग से पैदा होता है, जो व्यवहारानुपाती बनता है, उसका सारा आधार ही काल का भेद है, देश का भेद है। भवभूति सच्चे वैयाकरण दर्शन से अनुप्राणित कवि के रूप में काल के इस भेद से और देश के इस विभाग से, काल के इस आंतरिक द्वन्द्व से सर्वथा परिचित कवि है। सारा रंगकर्म ही काल की चेतना से और देश की चेतना से अनुप्राणित एक सर्जनात्मक प्रतिक्रिया है। थियेटर का मतलब ही होता है कि जो कुछ जितना भी काल बीत चुका है, जो अभी है और जो आने वाला है। थियेटर का अर्थ ही होता है, रंगकर्म का अर्थ ही होता है कि सारे के सारे तेज को संपुंजित कर दिया जाय। सारे के सारे काल को संपुंजित कर दिया जाय।

अगर ऐसा न होता तो भवभूति कभी यह न कह पाते—सूत्रधार एकदम शुरू करता है—

एषोहमिदानीम् आयोध्यकस्तदानीन्तनश्च संवृतः।

ये मैं बना आयोध्यक। ये मैं हुआ तदानीन्तन। काल के अनेक स्तरों को एकदम क्षणार्ध में भवभूति इस तरह प्रेषित कर देते हैं, कैसे जो इदानीन्तन काल है, अभी का काल है जो दर्शक का काल है जो प्रयोग का काल है—उसको एक साथ तुरन्त

जुटा देते हैं। यह चेतना भवभूति के भीतर जितने मुखर रूप में व्यंजित होती है, शायद ही संस्कृत के दूसरे नाटककार में इस रूप में व्यंजित होती हो। काल का...... इतना ही कह देते तो मैं शायद उनको काल की चेतना से संपन्न कहता। अगर कालिदास के थियेटर को 'थियेटर ऑफ मेमोरी' कहा जा सकता है तो मैं भवभूति के थियेटर को 'थियेटर ऑफ टाइम' कहना चाहूँगा, अगर कालिदास का सारा का सारा रंगकर्म स्मृति का रंगकर्म है 'दि लॉस ऑफ द मेमोरी एण्ड रिगेन ऑफ मेमोरी' स्मृति का भूलना, स्मृति का छूटना, याद का हाथों से बाहर होना और फिर से याद का वापस लौटना, बहुत ही अच्छी किताब अभी आई है। अमेरिका से 'थियेटर ऑफ मेमोरी' के नाम से बारवर मिलर ने अनुवाद किया है और उसने तीनों के तीनों नाटकों के लिए एक ही शब्द दिया है—'थियेटर ऑफ मेमोरी'। बात बहुत मौजूँ है, सारे के सारे भारतीय दर्शन के भीतर जो स्मृति की भूमिका है और फिर कालिदास के यहाँ जैसी स्मृति का उपयोग किया गया है, चाहे वह मालविकाग्निमित्र है, विक्रमोर्वशीय है, ये दर्शकों और विद्वानों के बीच में दोहराने की बात नहीं है, कौंध जाता है, कैसा यह विचित्र कवि है जो याद की परत दर परत को उधेड़ता हुआ अभिज्ञान-शाकुन्तल में अभिज्ञान पर ही पहुँचता है, पहचान पर ही पहुँचता है। अगर कोई पहचान भवभूति की देनी हो तो हम भवभूति को क्या पहचान दें। उसका रंगकर्म जिस चीज का रंगकर्म होगा, वो रंगकर्म शायद मुझे लगता है, वो रंगकर्म काल की चेतना का रंगकर्म होगा।

इससे भी ज्यादा अधिक जो बात मेरे मन पर लगातार असर करती रही है, एक रंगकर्मी के रूप में और एक साहित्यिक अध्येता के रूप में—वो है, उत्तर-चरित का अंतिम अंक। उत्तर-चरित के उस अंतिम अंक में जहाँ सारी की सारी घटनाएँ फिर से एक दूसरे स्तर पर, जो घटित काल है उस घटित काल के नाना स्तरों को जाड़ने की प्रक्रिया हो रही है और यह इन्जीनियस जो उसकी विधि है उसको भवभूति पकड़ लेता है और वाल्मीकि ने जो कुछ किया है उनके द्वारा किया गया यह आश्चर्य सामने आता है। आश्चर्य यही है कि काल के विभिन्न स्तर वहाँ पर एक साथ घटित होते दिखाई पड़ते हैं, सारी संघटनाएँ एक साथ आ रही हैं और वो जुड़ रही हैं। कितने स्तर होते हैं। राम के जीवन की घटित पूर्व घटनाओं का प्रेक्षक राम, राम की घटना के साथ जुड़ता हुआ सूत्रधार जो इदानीन्तन और आयोध्यक बन रहा है और उस सूत्रधार के साथ जुड़ता हुआ दर्शक जो सारी की सारी काल यात्रा में एक साथ जा रहा है, इतने स्तरों तक व्यंजित करने की शक्ति भवभूति जैसे नाटककार में ही हमें दिखाई पड़ती है।

यद्यपि ये कोई नई बात नहीं है। भवभूति के पहिले ऐसा कुछ प्रयोग हो चुका है। कालिदास के यहाँ भी है। कालिदास के यहाँ भी काल की यह चेतना और देश

की यह चेतना विद्यमान है और काल की चेतना स्पष्ट रूप से 'वासवदत्ता-नाट्य धारा' में भी आ चुकी है। उसके श्लोकों में भी अनेक काल खण्ड एक साथ उपस्थित होते हमारे सामने दिखाई देते हैं। बिन्दुसार है, उसके सामने उदयन की घटना हो रही है। मंच पर बैठे हुए बिन्दुसार के सामने उदयन के जीवन का वृत्त मंचित हो रहा है। वो देख रहा है और दर्शक स्वयं बिन्दुसार को देख रहा है, उसमें कई स्तर आते हैं। यहाँ एक और विलक्षणता है, जो भवभूति में ही है वासवदत्ता-नाट्यधारा में नहीं है। वह यह है कि आखिरकार बिन्दुसार उस घटना को जिसे वह देख रहा है, उससे अलग विलक्षण बात यहाँ होती है कि जो दृश्य है, जो पात्र के रूप में आया है वो पूर्व घटनाओं को करता हुआ, एकदम राम के जीवन में अनुविष्ट हो जाता है। सीता कब इदानीन्तन हो जाती है, कब राम की हो जाती है इसका पता ही नहीं चलता है। यह जो काल के स्तर-भेद को मिटा देना है, यह मिटा देना भी भवभूति जानते हैं। इसीलिए यह काल की चेतना और देश की चेतना की बात आती है।

जो वो तृतीय अंक के उपस्थापन की मुश्किल है, यह उत्तर-चरित में क्या है ? उत्तर-चरित के तीसरे अंक की स्थापना की मुश्किल तो है वही देश ना ? देश, एक साथ जो कई देश हैं, देश का जो प्रभाव है, जो थियेट्रिकल स्पेस है, उस थियेट्रिकल स्पेस को समझना और उसका रंगकर्म में प्रवेश करना रंगकर्मीय मंचों की समझ पैदा करना। कालिदास के यहाँ है, कालिदास के यहाँ मालविकाग्निमित्रम् में वो समझ दिखाई पड़ती है, वहाँ पर एक साथ बकुलावलिका है, मदनिका है। एक साथ इधर विदूषक है और अग्निमित्र है और प्लेसेस वहाँ पर अलग बाँट लिये गये हैं। कक्ष्या विभाग की वहाँ जो बात है वो कक्ष्या विभाग की बात स्पेस को डिवाइड करने की ही तो बात है। तो काल की यह समझ और देश की भी यह समझ, थियेट्रिकल स्पेस की भी समझ जो कालिदास के यहाँ थी, वो और भी मुखर रूप में भवभूति के यहाँ दिखाई देती है। इस रूप में ऐसा लगता है कि जो रस के प्रयोग में काल, काल की चेतना है और देश की चेतना है, वो भवभूति में आधार-भूत रूप में है। इसलिए कि—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥

सारे संघर्ष का आधार काल है क्योंकि भेद की वही शक्ल है।

इसके अनन्तर दिग् आती है। दिग् की यह चेतना भवभूति में पूरी तरह से प्रमाणित दिखाई पड़ती है। कालिदास जिस रंगकर्म के लिये प्रतिनिधि नाटककार हैं—कालिदास के बाद रङ्गकर्म को भी दिग् उससे अलग करती हुई आई। प्रायः हम बहुत सामान्य कृति की बात कह देते हैं और इसलिए वह वैशिष्ट्य सामने नहीं आ पाता।

कालिदास का उत्तर रङ्गकर्म —मैं शूद्रक कालिदास के पहले हैं या बाद में—यह कहना छोड़ देता हूँ, कालिदास के आस-पास या पहले ही मान लेता हूँ—भास, शूद्रक और कालिदास। इसके बाद जो रङ्गकर्म है इसकी दो धारायें हैं, सुस्पष्ट दो धारायें दिखाई पड़ती हैं। एक धारा वह है जिसमें वाक् काव्य की विशिष्ट भूमिका है। दूसरी धारा वह है जिसमें वाक् काव्य की उस भूमिका से विलग अभिनय की भूमिका है। मेरे संकेत को यूँ देखें कि एक तो हर्ष का रङ्गकर्म है, हर्ष के नाटक हैं। एक ओर तो प्रियदर्शिका है, रत्नावली है, नागानन्द है, दूसरी ओर मुद्राराक्षस है और भवभूति के ये नाटक हैं। मुद्राराक्षस और मालतीमाधव में जो साम्य हो सकता है वो साम्य इस बात का है कि शब्दों के प्रयोग में भी जो विधि विशाखदत्त के यहाँ आई, भवभूति के यहाँ उसको काफी हद तक बढ़ाने की एक प्रवृत्ति हुई। एक वर्णन आता है। लम्बे-लम्बे वर्णन आते हैं। आज मुश्किल होती है जब हम प्रयोग करने चलते हैं और आज, आज के अभ्यासी हैं, थियेटर के, जो काटने-छाँटने की बात यहाँ पर कही गई। काटने-छाँटने का क्या अर्थ होता है। किसी नाटक को काटने या छाँटने का उपक्रम कर दीजिये अपने हिसाब से, पर वो जो लिखे गये नाटक हैं वो तो अभिनय के लिये लिखे गये नाटक हैं, काटने-छाँटने के लिये लिखे गये नाटक तो थे नहीं, आज भले हो जायँ।

इस विषय में कुछ खास बात नहीं है कि वे अभिनेय हैं कि अभिनेय नहीं हैं। अभिनेय तो वे थे ही। आज हमारे लिये समस्या यह है कि अभिनेय हैं या कैसे-कैसे उनका अभिनय हम करें? वे तो प्रत्येक अक्षर अभिनय, अभिनय के लिये हैं। वे तो अपने मित्र किसी अभिनेता को, किसी सूत्रधार को देने के लिये लिखे गये हैं, जिसको बड़े गौरव से वह कहता है कि मेरा दोस्त भवभूति है। उसने मुझे दिया है—मैं इसको करने जा रहा हूँ। एक गहरी आतंरिक समझ है, एक दूसरे की, अभिनेता की और एक कवि की। वो कालिदास के यहाँ भी है, वो बाणभट्ट के यहाँ भी है। अतएव हर्ष के यहाँ भी होगी और वो स्वयं भवभूति के यहाँ भी है। वे प्रतिपद अभिनेय नाटक हैं।

मुश्किल पैदा होती है, जिसको सबेरे हमारे अध्यक्ष प्रो० अवस्थी ने कहा कि समस्त पदावलियाँ और वर्णन हैं। कालिदास का रङ्गकर्म जो है, उसके वर्णन उसके अभिनय का रङ्गकर्म अलग है। कालिदास उसका संकेत भी देते हैं।

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतः तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायानिर्मृदुरभिनयः तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव॥

एक क्रम है। नाट्यशास्त्र जब अभिनय की समीक्षा करता है, तो अभिनय का दर्शन देता है पूरा। मैं इस दर्शन की बात आज नहीं कर सकता, पर जो प्रक्रिया की बात है उसे कहना जरूरी है। अभिनय का एक पक्ष है जिसको वो सामान्य पक्ष कहता है। सामान्य अभिनय का मतलब है—अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं कि अभिनय का एक पक्ष है जो कि सब जगह दिखाई पड़ेगा, नाटक बदलता रहे, अभिनय की शैलियाँ बदलती रहें पर अभिनय का जो सामान्य रूप है वो वैसा ही रहेगा, अक्षुण्ण रहेगा। एक दूसरा अर्थ कहते हैं—'समं च तत् समश्च अभिनयः सामान्यः अभिनयः'। जो सम है जो हार्मोनियस है, जो अभिनय हम सब जानते हैं कि जो भारतीय रंगकर्म है वो अनेकानेक तत्त्वों का समाहार है। एक टोटल थियेटर जिसे आज कहा जाता है कि ऐसे संगीत का, नर्तन का, चित्र का, आलेख का, स्थापत्य का, सबका एक संपुंजित समाहित रूप है, जिसको भारतीय प्राचीन रंगकर्म कहते हैं। उस रंगकर्म में अगर हार्मोनी नहीं है, तो हार्मोनी न रहने पर वो रंगकर्म बनेगा कैसे। इसलिये सामान्य का अर्थ करते हैं कि जो सम है। समता के कारण उस अभिनय में कुछ अद्वितीयता आती है। कुछ और ही हो जाता है। अभिनय बनता है उस हार्मोनी के कारण।

वे तत्त्व क्या हैं? वे तत्त्व वाचिक सामान्य अभिनय के कुछ और हैं, आंगिक सामान्य अभिनय के कुछ और। आंगिक सामान्य अभिनय के जो तत्त्व हैं वो हैं वाक्य, सूचा, अंकुर, शाखा, नाट्यायित, निवृत्तांकुर। कालिदास के यहाँ जो रंग प्रयोग है उसकी शायद एक कल्पना ही कर सकते हैं। जो कुछ टेक्स्ट है, प्राप्त वर्णन हैं उसके आधार पर लगता है कि यह क्रम है। कालिदास के रंगकर्म में कालिदास की पहचान है कि अङ्गैरन्तर्निहित वचनैः सूचितः सम्यगर्थः वचन है और सूचन है। वचन है पहले वाक्याभिनय है, फिर सूचाभिनय है। पर स्पष्ट सूचक शब्द वहाँ पर है और वचन शब्द है। नाट्यशास्त्र को मिलाइये आप तो वाक्य है और सूचा है। पादन्यासो लयमनुगतः—लेकिन यह जो वाक्य है वह वाक्य ऐसे नहीं है प्रोज़ की तरह पढ़ लिया गया। श्लोक को बस हमने ऐसे रिसाइट कर दिया। ये सब का सब एक प्रकार के संगीत में अनुविद्ध है। इसलिये जितनी क्रिया हो रही है, सारी की सारी आंगिक क्रिया–पादन्यासोलयमनुगतः और चरम विपुल उसका उद्देश्य है। तन्मयत्वं रसेषु। इस प्रक्रिया को और इलोबरेट करिये तो वाक्य के बाद सूचा और सूचा के बाद शाखा—"शाखायोनिः मृदुः अभिनयः" दोनों ही तरह के प्रयोग हैं—आविद्ध और सुकुमार। तो यह मृदुः अभिनयः सुकुमार प्रयोगः ये सुकुमार प्रयोग है, क्योंकि ये मालविकाग्निमित्र में मालविका का छद्म नृत्य, सुकुमार प्रयोग है। वह उसका मूल शाखा है। मूल की कल्पना करिये कि बीच में स्कंध है, तो इसकी शाखा ये हाथ हुआ, ये पैर हुए। तो हस्त संचालन से और पैर के संचालन से जितने भी कर्म हो सकते हैं वे शाखा में आयेंगे। 'तस्य शाखा च नृत्यं च तथा अंकुर एव च' मृदुः

अभिनय: शाखायोनि: । सम्पूर्ण जो मृदु अभिनय हो रहा है, उसके मूल में हस्त-संचालन, पाद संचालन ये काम का है । अगर ये उसे कोआर्डिनेट नहीं करता तो हार्मोनी पैदा ही नहीं होती । इसलिए मृदु अभिनय के मूल में शाखा है—'शाखायोनि: मृदुरभिनय: तद् विकल्पानुवृत्तौ भावो भावं नुदति'—और फिर तो अनन्तानन्त कल्पना…अंकुर…अंकुर को परिभाषित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि अंकुर क्या है ? अंकुर है उन-उन भावों में कल्पना करना…पूरी छूट देना । कालिदास व्यंजना के कवि हैं—उनका रङ्गकर्म व्यंजना का होगा तो कैसा होगा । निश्चित रूप से वह प्रयोक्ता को वह अपार छूट देगा कल्पना करने की और अगर वो बात साफ है…आप हम को ऐसा विश्वास है कि वो बात आज भी जीवित है, इस रूप में कि हमारा जो क्लासिकी संगीत है उस संगीत में जो बढ़िया गाना, बढ़िया गाना है कहा जाता है तब, जब उपज का गाना होता है । जब उपज है तो गाना है, जब उपज है तो प्रयोग है । अच्छा अभिनय होगा तो क्या होगा—अंकुर होगा न ? उपज होगी न ? तो उपज का समानान्तर शब्द नाट्यशास्त्र में अंकुर लगता है । कालिदास का वो रङ्गकर्म है तो उपज का रङ्गकर्म है, कविता व्यंजना की कविता होगी, अभिनय उपज का अभिनय होगा अंकुर का अभिनय होगा । ये तो सामान्य बात है जो सब जगह है । कालिदास के यहाँ विशेष है तो अंकुर है और फिर निवृत्यंकुर तो सब जगह होता है । एक अभिनय हो रहा है, अभिनेता बोल रहा है और दूसरा रङ्गकर्म पर है । मंच पर है तो वो क्या करेगा, निवृति के बाद जो अंकुरण होता है चुप रहते हुए भी हम जो रिस्पाण्ड करते हैं, रिस्पाण्ड में जो कल्पना करते हैं वो निवृत्यंकुर है ।

कालिदास भरत के नितान्त अनुगामी नाटककार हैं और इसलिये भरत के अनुमोदित मार्ग को पूरी तरह से अगर हम ढूँढ़ना चाहें तो वह कालिदास के यहाँ ही दिखाई पड़ता है । पर और भी परम्पराएँ हैं, और भी अभिनय की धारायें हैं । उस धारा में कालिदास के बाद तो थोड़े परिवर्तन के साथ हर्ष ने परिवर्तन किये—कहते हैं हर्ष ने वार्तिक भी लिखा था नाट्यशास्त्र पर । हमारे आचार्य शुक्ल जी उस पर बहुत कुछ हमसे बातचीत करते हैं, बताते हैं । सारे वार्तिक—कुछ…सारे वार्तिक उचित मिलते हैं, लेकिन नाट्यशास्त्र की वह अनुगामिता और यह जो सामान्य अभिनय आंगिक सामान्य अभिनय ये रत्नावली में है इसका प्रमाण कुट्टनीमतम् के उस वर्णन से मिलता है जो रत्नावली के प्रयोग के बाद समीक्षा के तौर पर आये । उसमें विस्तार पर नहीं जाना है । दूसरी ओर है जहाँ वाचिक प्रधान है । भवभूति के रङ्गकर्म का वैशिष्ट्य है—वाचिक की प्रधानता क्योंकि वाक् प्रधान कवि है ये, अतएव वाचिक का प्राधान्य है । इसको मालतीमाधव की टीका में जगद्धर ने अंडरलाइन किया है । जगद्धर ने कहा है कि वाचिक रस का उदय होता है । वाचिक रस क्या है ? मालतीमाधव की टीका में वह कहता है कि वाचिक रस का उदय होता है । माने

वाचिक प्रयोग कुछ इस तरह से विकसित किया गया जो आज भी जैसे पँडवानी है, अब चल रहा है जिसमें थोड़ा सा अभिनय है और ज्यादा रेसिटेशन, अधिक रेसिटेशन से जो पैदा होता है शायद वाचिक रस है। उस तरह का रस है इसको हम यहाँ समझें।

अब मेरा सीमित समय है और मुझे बड़ा संकोच हो रहा है, रंगकर्म के अवदान की बात करनी है तो थोड़ा डिटेल में करनी पड़ती है, तो ये जो है वाचिक रस। वाचिक रस कैसे आता था। कठिन रास्ता है, उस पर हमको बहुत कुछ सोचना है। मुझे जब भाई भास्कराचार्य त्रिपाठी ने कहा कि मालतीमाधव का प्रयोग आप ले आइये तो मेरे मन में ये सारे सवाल उठ खड़े हुए और इनको चुनौती है, बिल्कुल चुनौती है, उस चुनौती को स्वीकार करना अभी संभव नहीं हो पाया। तो वाचिक रस क्या हो सकता है ? जैसे मुद्राराक्षस की बदलती हुई भाषा है और जो मालती-माधव की, उत्तर-चरित की, महावीर चरित की बदलती हुई भाषा है, ये हमें जवाब देती है। थियेटर की भाषा इतनी काम्प्लेक्स नहीं होती। समस्त पदावली थियेटर में मामूली तौर पर नहीं आया करती। यहाँ पर आई तो क्यों आई है, कैसे आई है ? जबकि ये अभिनय के लिए लिखे गये नाटक हैं। तो क्या ये रूप रहा होगा ? शायद पढ़ने का एक खास तरीका विकसित किया गया होगा। मैं थोड़ा-सा उदाहरण देना चाहता हूँ, जो मेरी नजर में आया है। ये जो है···वाचिकता की नई उद्‌भावना तभी संभव थी, जब छन्दों के प्रयोग का नया-नया रास्ता खोज लिया जाय, छन्दों के प्रयोग का, और छन्दों के ही प्रयोग का नहीं भाषा के प्रयोग का, फिर गद्य के प्रयोग का भी इसी में नया रास्ता ढूँढ़ लिया जाय। भवभूति ने इन दोनों मार्गों को समझा था। छन्द के प्रयोग का जो नया रास्ता है उसका एक मात्र संकेत मैं देना चाहता हूँ। सबेरे कल जो आपने शिखरिणी की बात कही थी वो शिखरिणी है ही—छन्द की योजना, रचना, गति, उसका जो खास बंध। ये सब कहने की बात नहीं, सब आपके सामने है, मैं चकित तब हुआ जब पहली बार, भाई श्रीनिवास ने बताया कि ये भास के यहाँ भी है, इसके बाद मैं भवभूति में पाता हूँ। भवभूति में ये है, श्यामलादण्डक। श्यामलादण्डक का प्रयोग भवभूति जब करते हैं पहली बार इस रूप में जब दिखाई पड़ता है तो श्यामलादण्डक का पाठ तो आप जानते ही हैं कि अगर हम घनाक्षरी का पाठ इधर करते हैं तो श्यामलादण्डक संस्कृत के पास है। ये देखिये—

प्रचलितकरिकृत्ति-पर्यन्तचञ्चन्नखाघातभिन्नेन्दुनिस्यन्दमानामृतश्च्योत–
जीवत्कपोलावलीमुक्त—चण्डाट्टहासत्रस्यद्भूरिभूतप्रवृत्तस्तुति······ ।
श्वसदसितभुजङ्गभोगाङ्ग-ग्रंथिनिष्पीडनस्फारफुल्लत्फणापीडनिर्यत्— द्विषद्-
ज्योतिरुज्जृम्भणोड्डामरव्यस्तविस्तारितोरखण्डपर्याकुलक्ष्माधरम्······आदि

और इसके बाद ड्रेमेटिक, डाइरेक्शन है—"इति अभिनयतः"–कपालकुण्डला

और अघोरघंट इसको पढ़ने के बाद अभिनय करते हैं। एक वाक्य है और वाक्य के बाद उसके प्रतिपद का अभिनय है। यह प्रतिपद अभिनय कैसे किया जाता होगा ? एक व्यंजना का अभिनय है जिसमें अपार, ठुमरी की अनन्त संभावना है जो ठाड़ी गोरी केसिया सँवारे, तो कितनी तरह से ठाड़ी बताइए आप। ठाड़ी, ठाड़ी-ठाड़ी कहिये उसमें जो अनन्त व्यंजनायें हैं वो ठुमरी कहिये, अंकुर कहिये, उपज है। लेकिन उस शब्द में केन्द्रित रहकर और उस शब्द को अभिनीत करके आप बताइए इससे आप कट नहीं सकते, आपको उस शब्द के ऊपर रहते हुए और तब उसी के आधार पर बनाना है। ज्यादा कल्पना करने की उसमें गुंजाइश नहीं है। इसलिए वो समस्त पदावली जो लम्बे-लम्बे वाक्य, वो चाहे प्राकृत के हैं, चाहे वे संस्कृत के हैं—वह वाक् के ऊपर केन्द्रित रहते हुए अभिनय करने की एक शैली है जिसको हमको खोजना पड़ेगा। वो कैसे की जाती थी, कैसे पाठ होता था और कैसे उसका अभिनटन होता था। इसमें ही यह देखिये—छन्द का और गद्य का—

एताश्चन्दनाश्वकर्णकेसरपाटलाप्राय–तरुघनाः परिणतमालूरसुरभयः अरण्य–गिरिभूमयः स्मारयन्ति खलु तरुणकदम्बजम्बूवनान्धकार–निकुञ्जगम्भीरगह्वरोद्गार–गोदावरी–मुखरितस्निग्धविशालमेखलाभुवो दक्षिणारण्यभूधराः.........

कालिदास मुख्यतः व्यंजना के कवि हैं। मुझे लगता है अगर अन्तर है तो भवभूति अभिधा के कवि हैं। वे इतना विस्तृत कहते हैं, बाणभट्ट की तरह इतने डिटेल में कहते हैं जो कि उसी पाये पर जाता है। अभिधा का कवि होने से कोई छोटा कवि नहीं होता—मेरा यह तात्पर्य नहीं है—समानान्तर कवि हैं। इसलिए अभिनय भी कुछ उसी तरह का, नाटक भी कुछ उसी तरह का विकसित हुआ है। विस्तार देते हैं—

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाधूत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः।
एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः ॥

या

एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
बाष्पाम्भः-परिपतनोद्गमान्तराले सन्दृष्टाः कुवलयिनो मया विभागाः ॥

छन्द का जो पठन है, जो चलन है, वो चलन ही है, डिटेल भी है। उसमें आप हटियेगा कहाँ ? आप पढ़िये पहले श्लोक पढ़िये उसके साथ उसको कहिये। उसमें ज्यादा आपको जगह नहीं है करने की। तो यह तो एक संकेत है वाचिक रस का और वाचिक पाठ खोजने की संभावनाओं का। ये आपके सामने मुझे कहना था।

शायद समय की सीमा के कारण मुझे यहीं रुकना चाहिये । भवभूति की इस पहचान को देखते हुए, तब एक जो दूसरी धारा है, जो करुण रस का महान् कवि है, जो स्वयं अपने को कहना चाहता है—तो हमें उसे मानना ही पडेगा कि करुण का, करुण रस का कवि है गोकि वो कम कवि प्रेम का नहीं है । प्रेम के उस रूप का जो रूप लोक से लोकोत्तर की ओर जाता है । ये शब्द भी भवभूति के यहाँ बड़े विचित्र रूप में आता है—लोको न मृष्यते, लोको मृष्यते, इस लोक की चेतना और लोक से लोकोत्तर की यात्रा की चेतना, मैं इस पर जरूर कुछ कहना चाहता था पर समय बाधक है । मैं संकेत मात्र ही करना चाहता हूँ कि यह जो लोक से लोकोत्तर होने की चेतना है— जो पहले वाल्मीकि ने—

> को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्
> धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च ....

यह इस लोक में कौन है अभी भी—अभी भी है—इस समय, हुआ नहीं, होगा नहीं—अभी भी है । इस लोक की चेतना के साथ लोकोत्तर का जो सम्बन्ध है, वो वाल्मीकि से स्वयं भवभूति दायी के रूप में प्राप्त करते हैं ।

यह लोक जो माधव में है--मालती में है । मालती और माधव का लोक उच्छल रूप में दिखाई पड़ता है । मालती माधव से महावीर तक होते हुए उत्तर-चरित तक की जो यात्रा है वो दरअसल लोक से लोकोत्तर होने की यात्रा है—भवभूति इस अर्थ में लोक के कवि हैं और लोकोत्तरता के कवि हैं । वे इसी अर्थ में संस्कृत के दूसरे नाटककारों से अलग नाटककार हैं । किसी के यहाँ यह लोक अपनी सारी ऊष्मा के साथ विराजता है, अपनी सारी शोभा के साथ विराजता है । एक ऐसा भी कवि है, जहाँ लोक है और उसके बाद लोकोत्तरता की वह यात्रा है । एक संबंध कायम होता है । कालिदास में भी इस लोक और उस दिव्य लोक का सम्मिलित रूप हैं । इस अर्थ में वे भी एक ऐसे ही कवि हैं, पर यह जो एक शलाकापुरुष की रचना करना है, जो शलाकापुरुष की रचना करके उसकी लोकोत्तरता को सामने रख देना है, वह भवभूति ही करते हैं । मैं इस अर्थ में मानता हूँ कि विश्व के रंगमंच और रङ्ग-कर्म की जब समीक्षा निष्पक्ष रूप में की जा सकेगी, जब ये पश्चिम को भी जानने की इच्छा होगी कि उसके बाहर भी बहुत कुछ नाटक के, नाट्य के रूप हैं, जो आज भी हमारे लिये विकल्प प्रस्तुत कर सकते हैं, वे आज के इस कठिन दारुण समय में कोई ऐसा रंगकर्म दे सकते हैं, कोई ऐसा नाटक दे सकते हैं जो निश्चित रूप से आज के लिये विकल्प बन सकता है । विश्वास मेरा है, कभी ऐसा न होगा कि भास की उपेक्षा की जा सके, शूद्रक को छोड़ा जा सके, कालिदास को छोड़ा जा सके या फिर भवभूति की ओर से आँख फेरी जा सके ।

अभी इस पर बहुत कुछ काम होना बाकी है। अच्छा होता कि हम इस चुनौती को स्वीकार करते। अच्छा होता कि गहराई में जाकर और उन नये आयामों को हम दरअसल खोज पाते, अपने लिये, जिससे हमारा अपना आज का रङ्गकर्म समृद्ध होता, जिस अपने रङ्गकर्म की पहचान के लिये हम आकुल दिखाई पड़ रहे हैं, पिछले बीस वर्षों से। वो पहचान शायद इन्हीं महान् नाटककारों के संकेतों से हमें मिल पायेगी।

करुण रस, विश्व नाट्य और भवभूति

विश्वनाथ भट्टाचार्य*

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
विन्देम देवतां वाचम् अमृतामात्मनः कलाम् ॥

नाटक एक सामाजिक कला है, इसमें जनसाधारण के साथ संबंध इतना अभ्यवहित होता है कि पांडित्य प्रदर्शन विशेष महत्त्व नहीं रखता । भवभूति का जहाँ तक सवाल है, वे एक अद्भुत प्रतिभाशाली कवि थे । उन्होंने कालिदास को सामने देखा और गम्भीरता से सोचा कि उस कवि के द्वारा लिखे गये श्रृङ्गार रस का जो परिपाक हुआ है, उसे हम पार नहीं कर पायेंगे । उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत दिया है—

तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर् विन्यस्त रूपां बुधाः ।

अभिनय के साथ उनका घनिष्ठ संबंध रहा है । ऐसा लगता है और उन्होंने राम कथा को एक नये रूप में हमारे सामने उपस्थित किया है । मैं समझता हूँ कि हमारे देश में जो सिद्धान्तकार हुए उनमें भरत के जोड़ का तो कोई है ही नहीं, उसके समान उदार सिद्धान्त बनाने वाले दूसरे नहीं हैं और उन्होंने इस प्रकार कहीं नहीं कहा कि करुण रस का किसी प्रकार से प्राधान्य न हो । यह तो बहुत बाद में 975 के आसपास धनञ्जय आकर कहते हैं—'श्रृङ्गारो वीर एव वा' भरत के अनुसार नाटक सर्वरसाढ्यम् होता है । तो यह जो पाश्चात्य पद्धति है कि—दुःखान्त कि सुखान्त—ट्रेजेडी कि कामेडी—ये विभाग हम करने क्यों जायँ ? हम जैसे कि अकादेमी शब्द को अपना रहे हैं, परिषद् शब्द से हमें चिढ़ है । भगवान जाने क्यों ? हम

* समापन सत्र का अध्यक्षीय वक्तव्य ।

ट्रेजेडी के लिये त्रासदी ढूंढ़ रहे हैं। लेकिन त्रास है नहीं वहाँ। और कामेडी के लिए कामदी कर देते हैं तो क्या मतलब निकलता है। भगवान जाने ? तो हम सीधे अपने देश की नाट्य परम्परा को जता सकते हैं। हम ये पायेंगे कि नाटक में सभी रसों का सम्यक् रूप से परि-पल्लवन संभव है। बहुत सुन्दर उदाहरण राधावल्लभ जी ने दिया उरुभंग का। हमें ख्याल है कि अपनी थीसिस में मैंने इसको स्पष्ट किया है कि यहाँ भाग्य का संपूर्ण विपर्यय है। इस ट्रेजेडी की मुख्य चीज है जीवन का एक मूल्यांकन हमारे देश में होता नहीं है, क्योंकि हम यथापूर्वमकल्पयत् मानने वाले हैं। हमारे यहाँ समय की गति जो है वो एकरेखिक नहीं वृत्ताकार है। वृत्ताकार गति में ट्रेजेडी नहीं होती। आप आगे कहाँ जायेंगे ? आप जानते हैं, पूर्वकल्प में जो हुआ था वह फिर से हो रहा है। यहाँ पर ईश्वर के विधान को समुचित ठहराने की बात है। प्रश्न ही नहीं उठता है। इन्द्र और वृत्र का संघर्ष हुआ, कोई ट्रेजेडी नहीं हुई। रावण को लेकर हमने सोचा ही नहीं। भवभूति ने त्रासदी को निश्चित रूप से थोड़ा बहुत साधा था। लेकिन उसको हम त्रासदी क्यों कहें यह अभी तक साफ नहीं है। लेकिन यह सोचा जा सकता है दुःख जीवन का जो अनुभव है उस अनुभव को हमारे देश के कवियों ने गहराई में पैठकर अनुभव किया है और उसका शतमुख प्रस्फुरण हमारे साहित्य में हुआ है। जिसको जानने के लिये गौतम बुद्ध को दीर्घकाल की तपस्या करनी पड़ी और उसके बाद उनको ज्ञान हुआ कि 'दुःखम् सत्यम्'—एक परम सत्य निकाला। हमारे यहाँ हम अनायास कह देते हैं—

यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्।

हमारे यहाँ जीवन के सत्य को कितनी सरलता के साथ जन समाज के सम्मुख उपस्थित करने का जो काम हमारे कवियों ने किया है, उसकी तुलना नहीं है। भवभूति वैसे ही कवि हैं। हमें खेद इतना है कि भवभूति जो इतना डींग हाँकते हैं कि—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।

वे तीन ही नाटक लिखकर क्यों रह गये, क्यों नहीं और दो-चार नाटक लिखे। ये भी विचारणीय विषय है। आप लोग सोचें योरोप के नाटककार शेक्सपीयर को लेते हैं उसने कम से कम तैंतीस नाटक लिखे। बर्नार्ड शा को हम लोग जानते हैं कितने नाटक लिखे। तो क्या कारण है कि इतना घटाटोप करते हुए तीन ही कृतियाँ। मालतीमाधव बड़ा सुन्दर है। ठीक है, लेकिन यह भी सत्य है कि यह कुल छः अंक में खतम हो सकता था। जिस वेदना को वहाँ उपस्थित किया गया है……जैसे कि

शरद बाबू के बारे में हम कहते हैं कि 1937 का जो बंगाल अग्निगर्भ में था, रोज के रोज आंदोलन हो रहे थे, लेकिन उनको मिलीं 10-12 अलक्षणीया कन्यायें सिर्फ। जीवन के उस वरिष्ठ पक्ष को उन्होंने छुआ नहीं। सिर्फ एक 'पथेरदाबी' लिखा। वह भी संयोग से लिख गया। तो हमारे देश के लिये यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कर्ण को लेकर किसी ने ट्रेजेडी लिखी नहीं, कर्ण निश्चित रूप से एक ट्रेजेडी केरेक्टर है। उच्च अवस्था से अध पतन होगा अधःपतन के बाद पुनर्मूल्यांकन होगा तो उस पुनर्मूल्यांकन के बिना ट्रेजेडी तो व्यर्थ हो जाती है। और यह भी सही है कि सुख केवल सुख हो यह धारणा हमारी धारणा नहीं है। जीवन की पूर्णता में सुख और दुःख ऐसे मिले हुए हैं कि हम कह सकते हैं—

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

जीवन में इस दु ख की जो कालिमा है उसकी छाप अगर न पड़े तो जीवन जीवन ही नहीं है। इस दृष्टि से भवभूति ने हमारे सामने अपने काल को उजागर किया है। लेकिन हम इतने अधन्य हैं, इतने अभागे हैं कि भारतवर्ष के हम लोग विशेषकर हम संस्कृत के ध्वजाधारी कि उस भवभूति को हमने भुला दिया है। आज तनवीर जी को हिन्दी अनुवाद करके उसे दिखाना पड़ता है, इस दृष्टि से भी सोचना पड़ेगा।

हम तो ये चाहेंगे कि संस्कृत का वैसा प्रचार-प्रसार शिक्षा के क्षेत्र में हो कि हम अपने ही उत्तराधिकार से प्राप्त अपनी सम्पत्ति का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें, उसका अनुभव कर सकें। यह आवश्यक नहीं है कि हमारे पास ट्रेजेडी हो। तनवीर साहब ने यूनिटी की चर्चा की। यूनिटी की चर्चा एरिस्टोटल् ने नहीं की है। यह एक बाद में चल पड़ा सिद्धान्त है। तो बहुत सारी ऐसी भ्रामक धारणायें हम लोगों में उत्पन्न हो गई हैं।

हम लोगों को गंभीरता से सोचना चाहिए कि हमारा जो नाट्यशास्त्र है, जो नाट्य की धारा है वो कहाँ तक ले जाकर छोड़ देती है। उसके आगे आज विश्व इनमें आगे बढ़ चुका है इसमें कोई संदेह नहीं। एरिस्टोटल् के सिद्धान्त भी पुराने हो चुके हैं, भरत के प्रयोग के निर्देश भी बहुत हद तक हम पालित नहीं कर पा रहे हैं तो यह आवश्यक भी नहीं है क्योंकि हमें चलना है, लेकिन हमारी गति यदि रुक गई है······आज यहाँ उस सिद्धान्त को हम ढूँढ़ने का प्रयास करें तो बुद्धि का उसमें प्रयास और साफल्य जरूर होगा लेकिन शायद कुछ मिलने की उम्मीद है कि नहीं—यह सोचना पड़ेगा।

———

रंगकर्म और भवभूति*

श्री हबीब तनवीर

मुझे तो कुछ झिझक थी, आने में, लेकिन शौक था बहुत। मैं यही सुनना चाहता था, और सुन रहा हूँ। यहाँ ऐसे डायमेन्शन्स् संस्कृत थियेटर के, भवभूति के मिले कि मैं अपने आप को बहुत खुशकिस्मत समझता हूँ। संस्कृत भाषा मैं नहीं जानता हूं, संस्कृत के पंडितों के बीच बैठने से मुझे डर लगता रहा है। अब वह थोड़ा कम हुआ है, इनकी **इज़्ज़तबज़ाई** और हौसलाअफज़ाई की वजह से, और हम रंगकर्मी जो अपने शौक की तरफ बढ़े, बहोत भगोड़े रहे हैं। संस्कृत के स्कॉलर्स् ने काफी रंग-कर्मियों को झिझोड़ा है और हमने उनको झिझोड़ा है। गोष्ठियों में उसकी चर्चा हम आज भी कर रहे थे कि वो जमाना बहुत दूर नहीं है। कोई मैं 1958 की बात कर रहा हूँ, जब मैंने पहले मृच्छकटिक किया था। तो 27-28 साल पहले और आज के जमाने में बड़ा फ़र्क आ गया है। हमारे दिल में इज्जत स्कॉलरशिप के सिलसिले में जाहिर है कि पहले भी थी और अब और बढ़ गई है। यही स्कालर्स के साथ भी हुआ है। एक डॉयलॉग शुरू हुआ है, पिछले 10 साल के परिवर्तन के बारे में भी, हम लोग बातें कर रहे थे, वो भी हुआ है।

मैं संस्कृत नाटक की तरफ आया, किसी के कहने पर नहीं, बल्कि पछताया कि पहले क्यों नहीं आया था। अपने अध्ययन से, अपने **मुताले** से, अपने इत्तफाक से ड्रामे दुनिया भर के पढ़ते-पढ़ते इसको देखा तो बहुत ही सहल, बहुत सहज पाया। मैनें जितने सारे नाटक पढ़े मसलन भवभूति, भास, हर्ष, कालिदास, बोधायन, महेन्द्र विक्रम और एकांकी नाटक लिखने वाले दूसरे—ये सबके सब मंच के योग्य नजर आये,

* समापनसत्र में दिया व्याख्यान

एक ग्लांस में। आज हमलोग सुनते रहे हैं कठिनाइयों के बारे में, संस्कृत नाटक के मंचन के सिलसिले में—तो मैं उसके विरुद्ध बात नहीं कह रहा हूँ, कठिनाइयाँ हैं और बहुत हैं, वह असम्भव जैसा नहीं लगा। कठिन नहीं है, ऐसा भी नहीं लगा। लेकिन एप्रेशल जिसे कहते हैं वही तो चीजों को आसान बनाता है, एप्रेशल मुझे महसूस हुआ।

ये जो विशाल स्वरूप है संस्कृत नाटक का, वो एक झलक में···चौक में से चंडाल गुजर जाता है चारुदत्त को लेकर, नौ आँगनों से मैत्रेय गुजर जाता है बसंतसेना को लेकर। बरसात होती है और बसंतसेना मिलने जाती है चारुदत्त से। उसका पूरा वर्णन है। यह सबके सब एक एक्स्प्रेशन की शक्ल में मुझे मिले। उसके बाद मैंने ज्यादा पढ़ना शुरू किया। आलोचना और अनुवाद के माध्यम से, अंग्रेजी अनुवाद और उसकी स्कॉलरशिप के माध्यम से। यहाँ से पढ़कर 1955 में जब इंग्लैंड गया तो वहाँ चौंकता रहा इन चीजों को पढ़कर और दूसरे स्कॉलर्स को अंग्रेज, फ्रांसीसी और जर्मन स्कॉलर्स जो कि भाषा से परिचित हैं, उसके फर्क को, भवभूति की गूँज-गरज को, कालिदास की मिठास को। उन्होंने लिखा है और बहुत सारी किताबें लिखी गई हैं। उन्हीं के माध्यम से हमें जो है टेक्स्ट पढ़ने के बाद कुछ इशारे मिले, कुछ खुद देखा और अंदाजा हुआ यही मेरी बुनियादी थीम है। इस सिलसिले में कि हर आदमी एक एपोलॉजी-सी पेश करता है, वो अभी तक सिलसिला चल रहा है। कुछ बदला है जैसा कि डाक्टर कमलेशदत्त त्रिपाठी ने आपको बतलाया, और बदलेगा। मैं लंदन गया उसके पहले 8 साल रंगकर्मी रहा, थियेटर के अंदर काम करता रहा। नाटक से परिचित था और निर्देशन कर चुका था। आगरा बाजार 1954 में प्रोड्यूस कर चुका था और उसके पहले नाटक कर चुका था, अभिनय कर चुका था, उसके बाद वहाँ पहुँचा था। संस्कृत के नाटक पढ़ने के बाद और कुछ वेस्ट के नाटक देखने के बाद मुझे इस पर गुस्सा आता था कि उनकी समझ से सारा इतिहास आर्ट का, कला का, रोम से शुरू होता है या ग्रीक से। जैसे कि हिन्दुस्तान था ही नहीं, चीन था ही नहीं और इजिप्ट था ही नहीं। सिरिया, बेबिलान का जिक्र आता है, पर आर्ट कल्चर सारा का सारा शुरू होता है ग्रीक से या रोम से।

यह इशारे बार-बार आपको इतिहास में पुरानी किताबों में मिलेंगे। कई साल तक जब नाटक करता रहा—संस्कृत के नाटकों में जब मैंने भवभूति का उत्तर रामचरित किया, भास के दो-तीन एकांकी नाटक किये और शूद्रक का मृच्छकटिक किया, उसके अलावा मुद्राराक्षस विशाखदत्त का, तब और मौका मिला। इसे तो बार-बार पढ़ना पड़ता है। एक-एक नाटक को सौ बार दो सौ बार तो गौर करने का मौका मिलता ही है और जो अपने को मौका न मिले तो मौका मिलता भी नहीं है। फिर वह एक रूटीन सा बन जाता है कि पढ़े चले जा रहे हैं आप। लेकिन अगर चौंकाने वाली चीजें है, कठिनाई जिनका जिक्र आया है वह आती हैं तो उनको

सॉल्व करने के सिलसिले में दिमाग जागता है, चौंकता है। उसका हल ढूँढ़ता है और मुझे उसमें यह पता मिला जो कि किताबों में नहीं मिलता रहा है कि कहीं कुछ गड़बड़ है, समझ की—स्कॉलरशिप के अंदर, और वह गड़बड़ यूनिटीज् के संबंध में है, टाइम, स्पेस और एक्शन की यूनिटीज् सबकान्शसली एप्लाई हुई चली जा रही हैं और वहाँ हमारे नाटक फेल होते हैं। एक सीन चल रहा है—सड़क के ऊपर कि बसंतसेना के पीछे संस्थानक उसका पीछा कर रहा है और फिर बसंतसेना चारुदत्त के घर में घुस गई। सीन चल रहा है, सीन बदला नहीं है। फिर बाहर सीन चल रहा है, जुआरी का पीछा माथुर कर रहा है, सड़क के ऊपर, मंदिर के अंदर, बसंतसेना के घर में, फिर बाहर वो सब एक सीन है, जिसको कि न्यूयार्क ने जब प्रोड्यूस किया और अमेरिकन हाथों ने जब करेक्ट पर्सपेक्टिव में ठीक से, सही हाथों से, मतलब ड्रेमेटर्जी की दृष्टि से, उसको रिफार्म किया, करेक्ट किया, वह गलत था उसको सही करना चाहिए, तो वो एक एक्ट के अन्दर कई सीन उन्होंने क्रिएट किये। सड़क के अंदर सीन नम्बर वन यानि सब डिविजन। दूसरा अंक दूसरा एक्ट। सीन नं० एक सड़क पर जुआरी का पीछा कर रहा है माथुर मृच्छकटिक में। सीन नं० दो मंदिर के अंदर गया। सीन नं० तीन बसंतसेना के घर में। सीन नं० चार फिर सड़क पर आये। सीन नं० पाँच फिर बसंतसेना के घर में। सीन नं० छः भिक्षु बन कर चला। इस तरह से कुल छः शाट, टुकड़े बना दिये थे, ये मिलता है।

फिर अब मैं देख रहा हूँ, पढ़ रहा हूँ पढ़ते वक्त तो मैंने, जैसे किताब पढ़ी जाती है, आदमी लोग नाटक को वैसे भी कम पढ़ते हैं, नाटक तो पढ़ने की चीज है नहीं। नाटक करने की चीज है। चूँकि मैं नाटक करता था इसलिए शौक से उसको पढ़ना मुश्किल नहीं था और मैं उसको व्हिजुलाइज़ करता हुआ पढ़ रहा था। मुझे तो मृच्छकटिक में पढ़ते वक्त कोई कठिनाई नजर नहीं आयी। फिर गुरुओं में, मैं किस-किस का नाम लूँ, कई चीजें मिली हैं। चाहे वह प्रभात टॉकीज के महान् निदेशक बेडेकर हों, जिन्होंने कि जब मैं लोकमान्य तिलक में छोटे से एक सीन का, जेलर का पार्ट कर रहा था और उन्होंने यह कहा था कि पत्र-माने लोकमान्य तिलक की चिट्ठियाँ—वो जेलर चुपके से लेकर उनको देता है। वो अपने जेलर का कर्त्तव्य कम अदा कर रहा है। कर रहा है मगर दरअसल लोकमान्य तिलक से हमदर्दी रखता है। वो चिट्ठी उनको दे देता है, बाद में फाड़ देता है। वो चिट्ठी को फाड़ कर आग में जलाने का सीन था और मैंने उसको यूँ फाडा और यूँ फेंक दिया और वह चीख पड़े अरे-अरे हबीब ये क्या कर रहे हो? मैंने कहा—क्या हुआ? उन्होंने कहा—यू आर टेकिंग द फायर ऑन दी शॉट। मैंने कहा—क्या मतलब? कहने लगे—लो... डेलिबरेटली...उसे फाड़ो और बिल्कुल आहिस्ता से फेंको। मुझे आज तक वो सीन याद है। जो चीज गड़ गई अब मैं जब नौजवानों पर आकूर हूँ, उनको सिखा रहा

था और मैंने जब योग से कहा कि तुम यह क्या कर रहे हो ? एक छोटी सी कहानी एक तमाम बड़ी कहानी के अंदर रहती है। बहुत सारे बागियों को सिपाहियों ने मारा, एक सिपाही जख्मी हुआ, तुम उसको उठाकर ले आये हो तो उसका रिदम ही गलत है। वहाँ से आओ आहिस्ता-आहिस्ता आओ। वह शक्स क्या जिन्दा है ? फिर यकायक महसूस करो कि हाँ, जिन्दा है और फिर दूसरे रिदम में तेजी से उसको उठाओ। अब एक साल से ये नाटक कर रहे हैं "हिदमा की अमर कहानी"। योग मिश्रा अभी तक वो रिदम पैदा नहीं कर सका। फिर मुझे वो लोकमान्य तिलक का किस्सा याद आ जाता है। मैंने उनसे कहा कि यूँ हमको बेडेकर साहब ने कहा था, वो हमें याद है, तुम भी इस किस्से को ऐसे सुनो कि नक्श हो जाए। अब वो कर रहे हैं। तो डंकन रोस एक हमारे गुरु, बलासानी दूसरे और ऐसे बहुत से। डंकन रोस थियेटर स्कूल में थे। उन्होंने एक सादी, बहुत आसान सी बात कही कि प्रोडक्शन का मतलब है कहानी का तहजामा। ड्रामे को मंचन करने का मतलब है कि लेखक ने क्या लिखा है, एक कहानी लिखी है—उस कहानी को आप टेक करते हैं। इसके अलावा उसमें कुछ नहीं है। मुझे इसकी तह में इतने-इतने मानी, मतलब नजर आये क्योंकि फिर उन्होंने बहुत बात की, पर मुझे इतना टुकड़ा याद है यही—कि डिलेवरी के बीच में दाई का काम निदेशक का काम है। तो मुझे ऐसा लगा कि स्टेज का और मेकप, संगीत, तमाम साधन जितने एक्ट असिसटेन्ट इसमें होते हैं और वो सारे के सारे कहानी को कह देने के साधन हैं। इससे ज्यादा या इससे कम कुछ नहीं है। इससे कम कहना इसलिए जरूरी है कि कहना आसान है, उसके अंदर जितनी मुश्किलें कला में होती हैं सो हैं मगर विलाख़ेस् यही चीज है। तो शैलियों के बारे में मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं यहाँ से बहुत प्रभावित होकर गया था, देहातों की लोक-नाट्य शैली में और संस्कृत किताब पढ़ के और मैंने फिर यह बाद में देखा कि दोनों में आपस का रिश्ता है। हमारे यहाँ एक पंडित थे बहुत बुजुर्ग, अच्छे लिखने वाले चार पादरी भी थे जो क्रिटिक थे, स्टेटमेंट के। गुलफजल की जानकारी थी तो खैर उन्होंने जिन्दगी में हमको बक्शा तो नहीं पर दोस्त थे, मिलते थे अच्छे तरीके से लेकिन—यह तुमने क्या किया कि शास्त्रीय नाटक को उठाकर कहाँ पटक दिया, बाजार के अंदर वो देहात की शैली में वगैरा-वगैरा।

तो वो हम सब सुनते रहते थे, नाटक पॉपुलर था और अब भी है और उसका शो चल रहा है अभी तक भी होता है। लेकिन यह मैं सही मन से नहीं कह रहा हूँ कि उसके अंदर क्लासिक्स, हमारे संस्कृत नाटक की महानता, उसकी विशालता सारी की सारी कोई भी रंगकर्मी बड़ी आसानी से या तमाम कोशिशों के बाद पकड़ ले या पकड़ लेता है, बहरहाल जहाँ तक कि उसको मंच पर लाने के साधन का संबंध है, मुझे एक दरिया की तरह बहता हुआ नाटक लगता है। यह पानी है जो

रुकता नहीं है और लोक, देहात के नाटकों में जो मैं देखता हूँ कि यही चीज फैलती है और दोनों के अन्दर मुझे टाइम, स्पेस और एक्शन की यूनिटीज् के ऊपर बाद में ध्यान गया कि यह नहीं होती, बार-बार टूट जाती है उस कन्टेक्स्ट में। मैं तो अपनी मजबूरी से टाइम का इस्तेमाल कर रहा हूँ, मगर काल का जो हमारा लब्ज़ है—उसकी युनिटी के सिलसिले में आपको कमलेशदत्त जी ने अभी बताया भवभूति के सिलसिले में तो उससे आपको अंदाजा होगा कि किस तरह की युनिटी का कान्सेप्ट सारा मुकर्रर है। बार-बार आपको यह हर नाटक में मिलता है।

तो इन आलोचकों और टीका करने वालों, कमेन्टेटर्स की बातें सुनने के बाद तो ऐसा लगता है कि बेचारे बड़े बड़े महाकवि भी थे, उनमें बस इतनी अकल नहीं थी कि जरा सा किसी का एक सेन्टेन्स और लिख देते, कोई और डायलॉग। जिसमें पूर्ति हो जाती, भर जाता टाइम। कि भई बगीचे में जाकर देखो, भला कि वह औरत की लाश पड़ी है क्या वहाँ, उसके बाद उसने कहा कि बीरवर तुम यहाँ कैसे आये हो—फिर उसने कहा कि मैं हो आया बगीचे। इसे इतना काफी है क्योंकि टाइम कट गया, भर गया, लेकिन नहीं भरा जाता। दूसरे, जबाब फौरन मिलता है। फलाँ साहब हैं ?–फलाँ साहब हाज़िर। तो यह बेवकूफी तो नहीं हो सकती, इतने बड़े आदमियों के दिमाग का कोई और दूसरा लेबिल था, जिसको वह सोच रहे थे। कहानी को यह जरूरत नहीं कि बीच में आप टाइम-वाइम भरें, कहानी में तो आपको तुरन्त ही, डायरेक्टली लाइक ए बुलेट एक चीज जा रही है आपको उस तरफ बढ़ना है, चुनांचे कोई जरूरत नहीं कि सीधा उसको रखा।

उसी तरीके से स्पेस का चलता है मामला, तो उसमें मुझे फिर ये लगा कि देहातों के अंदर वो चेतना क्यों है, तो जाहिर है कि कुछ लोक में कहीं न कहीं ये चीजें मिलती हुई सी हैं। और इसको देखने के बाद फिर मैं नाटक की तरफ बढ़ा और फिर उसको नाट्यशास्त्र में, पर बाद में पढ़ा, यॉनि प्रोडक्शन के बाद नहीं, पर उसके पहले, खूब अच्छी दिलचस्पी से, पूरा लुत्फ उठाने के बाद नाटक को किया। तो 12 बार तो मैंने अपने दिमाग में प्रोड्यूस किया–मृच्छकटिक को, यानि योरोप में घूमते-घूमते। बारह मैंने इसलिए कहा कि उसमें बारादरी भी आयी है सेट में, और दुनिया भर के सेट। क्योंकि एक चीज डंकनरोस ने और कही थी कि कोई ऐसा प्रोडक्शन, कोई भी ऐसा निदेशक जो ड्रामे को पेश कर रहा है और ऐसे फिजिकल अप्लायन्सेस और ऐसा सेट लाता है कि जो कुछ भी करता है उसमें बाधा डाले कहानी के फ्लो में और विषय के उभरने में तो फिर वो गैरजरूरी है, ज्यादा है, वल्गर है। इन अल्फाज में न सही पर उन्होंने यह कहा था कि आप जो पहली बार नाटक पढ़ें और उससे जो आपके ऊपर असर हो आप यह मान कर चलिए कि एक महीने, दो महीने, छः महीने में रियाज के बाद, साधना के बाद, डट कर मेहनत

करने के बाद जब पेश करें तो उसे दर्शक पहली बार देखेगा—उसपर बिल्कुल वही प्रभाव पड़ना चाहिए जो कि आप पर हुआ। अगर इस इम्प्रेशन से आप कर रहे हैं, तो सारी कला इसी के अन्दर है। चुनांचे मैं फैक्ट में देख रहा था कि कौन सा फैक्ट बीच में'आकर कहानी को रोकता है। मुझे तकरीबन हर सेट कहानी को रोकता हुआ सा नजर आया। क्योंकि वहाँ पर किसका घर बना हुआ हो—चारुदत्त का या बसंतसेना का, कि दोनों के बीच में फासला भी हो। वह पहुँचाने भी जाता है। वो चाँदनी रात में जिसमें मशाल की जरूरत नहीं है, घर में तेल नहीं है, तो पहुँचाने जाता है और वापस आता है। सीन एक ही है। दोनों घर को बेकवाक में मैंने देखा है, प्रोडक्शन के अन्दर दिखाया गया, मुझे एतराज हुआ। कि मेरी रीडिंग गलत है, नाटक की रीडिंग गलत है। अगर दो घर हैं तो स्पेस सीमित है। कुछ नहीं है तो स्पेस अभी उसके अन्दर बिल्कुल मेहजूद नहीं है, कोई हद नहीं है उसकी। तो स्पेस तो हमेशा वहाँ मौजूद है। पेन्टर के लिए केन्वस उसका मेहजूद है असीम है, उसमें कोई सीमा नहीं है उसकी। सारे यूनिवर्स को उसमें केप्चर कर लेता है। मंच हमारा चाहे 30 × 20 फुट का हो चाहे 50 फुट चौड़ा और 45 फुट गहरा हो। कितना होगा इससे ज्यादा। उसके अन्दर सब पूरा कृष्ण के मुँह की तरह सारा संसार समा जाना चाहिए। अगर आप उसकी सारी चीजों को केन्द्रित करना चाहें तो उसमें आ जाना चाहिए।

तो उस स्पेस के अन्दर आप पिजिकल्टी ढूँढ़ें और कुछ चीजों को विशेष बनाएँ तो वो फिर क्या-क्या करता है, उसको रोकता है, बाधा डालता है। तो बारादरी में पहुँचे। बारादरी के फिगर कट हो रहे थे और दूसरी जगह में फेल हो रहे थे। आखिर में मैं चबूतरे पर पहुँचा। फिर हमारे डेकोरमास्टर जो थे जो बहुत बड़े कलाकार थे, पर वे कहने लगे हमको कुछ तो मौका दो कि सेट बनाएँ। तो हमने कहा कि मौका तुम्हें सिर्फ यह है कि यह जो गोल चबूतरा बीच में है यह गोल रहेगा। यह चबूतरा वैसा ही रहेगा और इसके अलावा जो तुम हम कर रहे हैं उसको लोक नाट्य शैली में, लोक नाटक का है चुनांचे आप कुछ देहाती चीजें बना दीजिए मगर सेट कुछ और नहीं होगा। खैर वह बहुत असंतुष्ट रहे उससे लेकिन मुझे पूरा संतोष मिला। मैंने मृच्छकटिक को एक दायरे की शक्ल में देखा। मूवमेन्ट पूरा सर्कुलर नजर आया। खैर सर्कुलर मूवमेन्ट मुझे देहाती नाटकों में भी मिलता है। सर्कुलर मूवमेन्ट मुझे काल का मिलता है। सबसे पहले मुझे महाभारत में मिलता है। महाभारत सारा का सारा काल के विषय में है जो कुछ बात आपने कमलेश जी से सुनी उससे ज्यादा मिला जो कि महाभारत में है। वो भी जो कि भवभूति ने बनाया, इतनी खूबसूरती से कैच किया है। तो ये नजर आया। उत्तररामचरित का मुझे यू की शक्ल में प्लेटफार्म नजर आया। ये कोई जरूरी नहीं है कि हर एक को एक-सी ही शक्ल में

नजर आये। मुझे सारा नाटक होता हुआ नजर आया। तो कोई खास ताम-झाम वाला नाटक थियेटर हमारा प्राचीनकाल में रहा हो ऐसा मुझे कहीं इशारा नहीं मिला। परदे के सिलसिले में मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मशीन भी थी पुराने नाटकों में, और वो जो पर्दा उछालकर और हटाकर प्रवेश करने में। तमाम चीजों में मेरी रीडिंग बस यही रही है कि यह संस्कृत का थियेटर जो है वह लेखक का नाटक है और अभिनेता का नाटक है, उसके पास शब्द हैं और अभिनेता के पास वो कला है जो उन शब्दों को वहाँ तक पहुँचाता है, उन दर्शकों तक।

अपनी तमाम विषय वस्तु और खूबसूरती, सौन्दर्य और गहराइयों के साथ तो इसके अलावा और कोई एड की जरूरत उसके अन्दर महसूस नहीं होती। यह बात कि भवभूति के उत्तररामचरित में, दूसरी चीज जिसका जिक्र आपने सुन लिया, उसकी तरफ मैं इशारा करूँ कि उस विषय में मैं बोलना नहीं चाहता। यहाँ पर इसके बारे में बातचीत हो चुकी है, वही कि इंसान के रूप में राम जिस तरह से आते हैं, तो जाहिर है कि वाल्मिक में भी आते हैं। तुलसी की भक्ति ने जिस राम को गाड तक रख के आज थोड़ा-सा खराब भी कर दिया हमारे लिए। यह कि उनकी कविता की तरफ इशारा नहीं है, वे तो महान कवि थे तुलसी जी। उससे राम के प्रति जो श्रद्धा है और सीता के प्रति, लक्ष्मण के प्रति सम्मान है, उस श्रद्धा के अन्दर एक थोड़ा-सा अंधेरा भी आ जाता है, उसमें और कुछ देखना नहीं चाहते। वही चीज थी जिसने मुझे इस बात की तरफ उकसाया और मैंने देखा कि कुछ इंसानियत के रूप में राम को पेश किया है। उनके दु:ख को भी उसी रूप में पेश किया है। और उसके साथ-साथ चूँकि इंसान के रूप में पेश किया है थोड़ी-सी झलक एक इशारा कमजोरियों की तरफ भी लगता है। वह इशारा यूँ कि जैसे—वनवास है तो खुद आदेश नहीं देते। उसको जस्टिफाई करने की बात है। आप कह सकते हैं कि मोहब्बत की वजह से, तकल्लुफ की वजह से, इतनी जिसे जिसके साथ मोहब्बत हो वह उसको यह कैसे कह सकता है कि तू जंगल में जा। तो लक्ष्मण को भेजा। मगर उसका यह भी इंटर-प्रिटेशन हो सकता है कि इतनी हिम्मत भी नहीं थी कि खुद जा कर कहते कि तुम जंगल में जाओ। फिर सीता के डायलॉग हैं कि तुम्हारे शाने पर मैं लेटी थी और मुझे छोड़ दिया, आज तक ऐसा नहीं किया मैं तुम्हारी खबर लूँगी। तो इस तरह के जो इशारे मिलते हैं तो वैसी सोता हम भूल गये हैं। तो पानशाप कलेण्डर के अन्दर जो शक्ल है, सदा जवान, सदाबहार और वो तमाम जेवरात वगैरा और नौटंकी में रामलीला में जो राम आते हैं। तो हमने दाढ़ी मूछें दीं, ग्रे हेयर दिये उनको माडर्न बनाया आदमी की शक्ल में। लोग कुछ झुंझलाये थे। मेरी रीडिंग चूँकि भवभूति की यह थी कि ज्यादा इंसान के रूप में राजा के रूप में और एक आदमी के रूप में पेश किया है। तो थोड़ा-सा हटें और कलेण्डर के राम को जो कलेण्डर में आते हैं उससे

लोगों के जेहन को हटाया जाय। तो उससे कुछ लोगों को बहुत तकलीफ पहुँची और कुछ लोगों ने उसको एक्सेप्ट किया। मालतीमाधव मैंने मंचन होते देखा नहीं, आज शाम को हम लोग होते देखेंगे। उसको पढ़ा। मुझे लगता है कि इससे अच्छी कामेडी न रत्नावली लगती है न स्वप्नवासवदत्ता जितनी की मालती माधव और उसके अंदर जो रिपासिव एलिमेन्टस् हैं वो मुझे किसी भी नाटक में इतने जोर-शोर से नहीं मिलते हैं।

जब मैं गूँज गरज की बात सुनता रहा, इन ट्रांसलेशन्स में भवभूति की वो आज इस मीटर का अंदाजा हुआ तो ओरिजिनल सुन के कमलेश जी की जुबान से जिस तरह से वो चल रहा था मीटर जो कि गालिबन ग्रोटेस्ट्री के सिलसिले में और रिपासिव के सिलसिले में जिसमें बिल्कुल फिट है वो सारा वजन और उसका अंदाजा तो न जानते हुए भी इस भाषा पोइटिकलि एक अंदाजा होता है कि यह इस विषय में इस्तेमाल किया होगा। गूँज गरज जिसका जिकर सुनते हैं यूँ होगी। कभी वो इत्तेफाक होगा हाँलाकि मैंने पंडितों के साथ भी प्रोड्यूस किया। यह नहीं किया कि मैंने एक अनुवाद ले लिया। तो कई पंडितों के साथ कई बार बैठ कर कई महीने की रियाज के बाद और जितना मुझसे हो सकता था और फिर उसमें मैंने कदम उठाया था। क्योंकि डर लगता था इस तरफ बढ़ते हुए और फिर चले भी। खैर अब आप लोग इज्जतवजाइ कर रहे हैं, चुनांचे इतनी हिम्मत है कि यहाँ खड़े होकर इस तरह बात कर रहा हूँ। अब भवभूति, कालिदास, भास, विशाखदत्त, हर्ष मेरे अपने इम्प्रेशन में सबसे प्रथम नाटक इसलिए नहीं कि मास्टरपीस हम कालिदास के शकुन्तला को मानते हैं, उसे खराब मैं नहीं कह रहा हूँ, मैं तो कह रहा हूँ कि मेरी नजर, इसको कहना चाहिये, जब पड़ी तो मृच्छकटिक पर पड़ी सबसे पहले। नम्बर दो मेरा इम्प्रेशन रहा विशाखदत्त के मुद्राराक्षस और नम्बर तीन शकुन्तला। उसका जब मैंने मृच्छकटिक कर लिया हिन्दुस्तानी थियेटर में और फिर मुझसे कहा गया कि तुमने यह बनाया था शिड्यूल कि नम्बर एक मिट्टी की गाड़ी (मृच्छकटिक), नम्बर दो मुद्राराक्षस, तो अब नम्बर दो मुद्राराक्षस करो। तो मैंने उनसे माफी माँगी और कहा कि मैं कोई हल्की फुल्की कामेडी करूँगा या कोई और नाटक छोटा-मोटा करूँगा और मुद्राराक्षस करने के लिए मुझे अभी कम से कम 5 साल का अनुभव चाहिए। यह मैंने बहुत ईमानदारी से कहा था, मैंने कहा बहुत मुश्किल नाटक है। मुझे पूरा यकीन है कि यदि कुछ भी डिफिकल्टी ऐसी है जिसको सॉल्व करने के लिए मुझे अनुभव की जरूरत है और किसी किस्म के मुताले की अध्ययन की जरूरत नहीं है। तो खैर उस पर झगड़ा हो गया। हम हट गये। निकाल दिये गये। वो अलग किस्सा है। दरअसल तकरीबन पाँच साल मैंने कहा था और मैंने उसको प्रोड्यूस किया है 1954 में। अट्ठावन और चौंसठ छः साल। तो पाँच साल कहा था लिए छः साल

और मेरी डिफिकल्टी उसमें यह थी, मैं आपको बताऊँ, कि जब मैंने एक रीडिंग में मृच्छकटिक पढ़ी एक दम आसान सा लगा। एक रीडिंग में मैंने मुद्राराक्षस पढ़ा, बहुत अच्छा लगा। मगर मैंने फौरन दूसरी बार पढ़ा, फौरन तीसरी बार पढ़ा, सिर्फ समझने के लिये। मैंने कहा दर्शक तो तीन बार नहीं देखेगा, एक ही बार देखेगा। मगर मुझे तीन बार पढ़ना पड़ा है सिर्फ समझने के लिए। मुझे जो उसके स्पाइज़ हैं, सिक्रेट सर्विस के जासूस हैं जो चाणक्य की तरफ हैं, फिर राक्षस की तरफ नजर आते हैं, फिर चाणक्य की ही तरफ नज़र आते हैं। वो इतने ज्यादा हैं और इतने कम किफायत के साथ टर्स, काम्पेक्ट, कम अल्फाज़ में वो चीज सामने आती है कि आदमी चक्कर में पड़ जाता है कि कौन इसका आदमी है और कहाँ का है। तो बार-बार पढ़ना पड़ता है तो हम उसको कैसे दिखाएँ।

बहरहाल मैंने उसको सॉल्व किया और उसको इस तरह सॉल्व किया कि दो रंग बाँट दिये। चाणक्य के सारे जासूसों का एक रंग रेड बाहर और ब्राउन अन्दर और राक्षस का दूसरा ब्लू और इसमें कई शेड्स्। तो उसके आदमियों को भी इसी तरह और फिर जिसे कि एक्चुवल टर्नओवर कहते हैं अंग्रेजी में। जो आदमी आज आपका कल उसका। आयाराम-गयाराम। जासूस जो कभी इसके नजर आते हैं कभी उसके, उनको मैंने दो रंग दिये अंदर एक रंग बाहर एक रंग और वह आडियेंस के सामने फौरन बहुत आसानी से अपना चौंगा बदल लेते हैं। बहुत आसान था वह चौंगा।

विषयवस्तु जिसका जिक्र मैंने पहले भी किया था उसमें मैं ढूँढ़ रहा था जो कि मृच्छकटिक में बहुत साफ है, इसके अन्दर भी साफ है कि मैकर्स प्ले। तो अपने एक्टर को मैंने कहा कि भई वल्लभभाई पटेल के सिलसिले में सोचो तो शायद चाणक्य कर लोगे। कई दिनों तक बात करते रहे, समझ में नहीं आ रही थी, जो एक बात कन्टम्प्रेरी हो जब मैंने कहा कि वल्लभ भाई पटेल के सिलसिले में सोचो तो यूँ करता हुआ गया। दूसरे दिन से उसकी एक्टिंग में परिवर्तन आया और कुछ चीज लेकर आया जिससे अंदाजा हुआ कि नाटक आज का है एक्टर बड़ा अच्छा है। तो हमको तो यह कहने में तकल्लुफ नहीं होता कि संस्कृत का हर नाटक मंचन के योग्य आज भी है, पहले रहा ही होगा। यह नहीं कह रहा हूँ कि आसान है लेकिन आसान और सहज वो चीज है जिसमें इंस्पिरेशन हो और जब मैंने बहुत देहाती लोगों को, जिससे मैंने फायदा उठाया है, उसी सिलसिले में उसी शैली में करता भी रहा हूँ। मुझे लगा कि इनके पास वो कन्टिन्यूटी वो सर्किल मौजूद है कि आज भी अयोध्या में एक एक्टर एक चक्कर लगाने के बाद लंका पहुँच जाता है और वैसे ही संस्कृत नाटक में तो दोनों में कल्चरल एकता, रिश्ता एक एप्रोच का गहरा नाता-मौजूद है, ये देखा। इसमें जब लॉस होता है वो जिसमें कि पंडित लोग झुंझलाते हैं, उसको हम पूरा एक्सेप्ट करते हैं। कि यह अभिमान कैसे हो सकता है कि उसकी इतनी महान कविता

और वो कोई भी ग्रामीण कलाकार उसको निभा ले जायेगा। उसको प्रकट कर सकेगा कि आपको उससे पूरा संतोष मिलेगा। लेकिन कुछ चीजें इतनी वाइटल हैं कि हम उसमें कम्पेन्सेशन भी ढूँढ़ लेते हैं, कि वो चीजें तो कर ले जाता है और उसके बाद बेलेन्स मौजूद है तो शायद वो कर ले जाय। मैं, इसके अलावा आप सुन चुके हैं, कुछ कहना भी नहीं चाहता।

भवभूति का एक नाटक किया। शकुन्तला को मैं सबसे डिफिकल्ट नाटक अपनी नजर में मानता हूँ। चुनांचे मैं अभी तक नहीं कर पाया हूँ। मेरी बीवी ने किया था, मैंने देखा नहीं। लेकिन उस वक्त वह मेरी बीवी थी भी नहीं। मैं कहना चाहूँगा कि शुरू में उसको पढ़ने के बाद जो लुत्फ सबको आया, सारी दुनिया को आया वह मुझे भी आया, लेकिन इसको फौरन मंच पर लाऊँगा ऐसा इंस्पिरेशन नहीं हुआ। डर सा लगा···कितनी खूबसूरत चीज···कितने नाजुक वो तमाम नाते रिश्ते कितनी खूबसूरत वो रस्क का वयान शकुन्तला और दुष्यन्त के और उसके बाद वो जिसके बारे में पहले बात हुई। ये तमाम इंस्पिरेशन के पाइंट हैं। इसके बावजूद मुझे सबसे कठिन नाटक शकुन्तला ही लगता है। दूसरी एक चीज मेरी दृष्टि में कि एक भी ऐसा नाटक प्रोडक्शन मैंने नहीं देखा शकुन्तला का जो मुझे अच्छा लगा हो। उससे ही मुझे डर लगा हुआ है कि मुझे अपना प्रोडक्शन थोड़ा तो पसंद आना चाहिए। चाहे किसी को आये या न आये। मिट्टी की गाड़ी में ये हुआ, नहीं भी आया लोगों को पसंद पर मुझे तो बहुत पसंद था। और वो भी किसी अभिमान के नाते नहीं, लेकिन मुझे लगता था कि मैं आब्जेक्टिव्हली यह सोच रहा हूँ कि मैंने रूस में देखा मृच्छकटिक, जर्मनी में देखा और बाहर कहाँ-कहाँ यह हुआ है, होने के लिए पिकिंग में हुआ। पिकिंग में उन्होंने शाप जो है दुर्वासा का वो किसी वजह से हटा दिया। मुझे लगा कि सारा ढाँचा ही खतम हो गया। दुर्वासा को हटा दिया सारा मेमोरी समाप्त हो गया। सारा आधार उसका मिट गया। तो उस किस्म की मातमीम मेरे ख्याल में नहीं आती है। इस किस्म का डाग्मेटिक कट्टर किस्म का कोई भी डॉग्मा हो तो अच्छा नहीं होता। जब उसको इस तरीके से देखते हैं कि यह कोई गलत चीज है। इसको हटा दो यहाँ से। तो वो और प्रेफिन्स में हुआ पेरिस में हुआ दुनिया की कई जगहों पर कई इसके मंचन हुए हैं, उनके जिक्र पढ़ने से और उनको देखने के बाद डॉ० राघवन् का प्रोडक्शन देखा। और लोगों का देखा। हमारे कन्टम्प्रेरीज का, बंगाल का, हिन्दी के बहुत से। मुझे अपना ही नाटक सबसे अच्छा लगता रहा है। अपने मुँह से यह शोभा नहीं देता कि मैं कहूँ पर मैं आपको सच्ची बात बताता हूँ कि मुझे तमाम कमजोरियों के बाद भी लगता है—एक बुनियादी चीज किसी और प्रोडक्शन में नजर नहीं आयी और बुनियादी चीज है एक सूत्र में उस नाटक को पिरो देता है शूद्रक।

सारी कविता हमने खतम कर दी। गणिका के एहसास को हम पेश नहीं कर सकते हैं और हमारा यह चैलेन्ज है कि दूसरा कोई पढ़ा-लिखा भी नहीं कर सकता। गणिका को कैसे पेश कर देंगे। आज के अभिनेता ? पता नहीं कितने रियाज़ की जरूरत पड़ेगी और फिर उसमें कितने क्या चीज लेकर आयेंगे। सिर्फ ऐसे-वैसे नखरों से तो बसंतसेना बन नहीं सकती। तो वो सब हम जानते हैं उसके अंदर भ्रम नहीं है कि वो हो सकता है। लेकिन एक चीज उसके अंदर है जरूर कि वो यूनिटी जो भरत मुनी में मिलती है, जिसके नाते वो लोग आलोचना करते रहे हैं और उसकी गूँज हमारे यहाँ के शुरू के पंडित और जितनी किताबें लिखीं गई हैं सब में आपको मिलेगी। एपोलाजी के विषय में कि विचारों को नाटक लिखना नहीं आता था कविता महान् थी यह एक किस्म का इशारा मिलता है। जिससे गुस्सा आता है। वह इस बात पर कि मुझे तो बड़ा सहज ग्रन्थ लगा और होता हुआ नजर आया और गाँव वालों को भी इसमें कोई बुराई कोई बाधा नजर नहीं आयी फिर ये कौन बुद्धिजीवी हैं जिनकी समझ में यह फिट नहीं होती है कि भई यह कोई और कांसेप्ट भी हो सकता है स्टाइल का, स्पेस का, एक्टिंग का।

———